सीमित वितरण हेतु प्रकाशित

देखी सुनी

वर्ष 2012, अंक 22

'इंसान को कठिनाईयों की आवश्यकता होती है, क्योंकि सफलता का आनंद उठाने के लिए ये ज़रूरी है' – अब्दुल कलाम

प्रिय सथियों,

इस बार के अंक में शामिल है – कार्टून विवाद व दलित संवाद, शिक्षा के अधिकार से जुड़े सवाल व अंतर्विरोध, स्त्री – पुरूष समता व समझ, कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न – समस्या व कानून, शौचालय – अधिकार की जनभागिदारी व भूमंण्डलीयकरण और महिला असुरक्षा के विरूद्व जन प्रतिक्रिया।

आशा करते हैं कि हमारी ये कोशिश आपके कार्यो में सहयोगी साबित होगी। अपने सुझावो व प्रतिक्रियाओं द्वारा हमारी बेहतरी में भागीदार अवश्य बने।

नीतू रौतेला
जागोरी संदर्भ समूह

कार्टून विवाद और दलित

अनूप कुमार

करीब एक महीने पहले की बात है, मेरे कुछ दलित मित्रों ने एनसीइआरटी की एक पाठ्यपुस्तक के बारे में बताया कि उसमें डॉ भीमराव आंबेडकर पर एक अपमानजनक कार्टून है। उन्होंने मुझे इस किताब का पीडीएफ फॉर्मेट भी इमेल किया और कहा कि हम दलितों को इस किताब के खिलाफ आवाज उठानी चाहिए।

पर मैंने उनके इस सुझाव को तवज्जो नहीं दी, क्योंकि मुझे यह विश्वास था कि एनसीइआरटी जैसी संस्था अपनी किसी किताब में डॉ आंबेडकर को अपमानित करने वाला कोई कार्टून शामिल नहीं करेगी, खासकर ऐसे समय जब दलित आंदोलन अपने उफान पर है। यही सब सोच कर मैंने इस कार्टून पर विशेष ध्यान नहीं दिया। सच कहूं तो मैंने इसमें न पंडित नेहरू को देखा था न उनके हाथ में कोड़े को। इसलिए मेरे मन में यह खयाल ही नहीं आया कि एक 'कश्मीरी ब्राह्मण डॉ आंबेडकर पर कोड़े चला रहा है' (जैसा कि इस कार्टून पर टिपण्णी करने वाले लोग मजाकिया अंदाज में कहते हैं)। मुझे तो इस कार्टून में डॉ आंबेडकर एक घोंघे पर बैठे भर दिखाई दिए और स्वाभाविक ही खयाल आया कि शायद संविधान निर्माण में होने वाली देरी की तुलना घोंघे की चाल से की गई है।

वास्तव में, अगर एनसीइआरटी की मंशा इतना भर दिखाने की होती तो इसे बर्दाश्त किया जा सकता था। आखिर कुछ आलोचनाओं के साथ, संविधान निर्माण समिति पर धीमी रफ्तार से काम करने का आरोप तो तब लगा ही था। इस आरोप का उत्तर खुद आंबेडकर ने 26 नवंबर, 1949 को अपने ऐतिहासिक वक्तव्य में दिया था।

हालांकि मुझे इसमें आंबेडकर को अपमानित करने वाला कुछ नहीं लगा, फिर भी व्यक्तिगत तौर पर मुझे यह कार्टून पसंद नहीं आया, क्योंकि भले ही एनसीइआरटी के विद्वान इस माध्यम से विद्यार्थियों को संविधान-निर्माण प्रक्रिया में हुए विलंब के कारणों से अवगत कराना चाहते रहे हों, लेकिन संविधान निर्माण प्रक्रिया की तुलना घोंघे की चाल से करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

मेरी नजर में, फिलहाल वह स्थिति ही आदर्श होगी कि किसी भी स्कूली पाठ्यपुस्तक में आंबेडकर के संघर्ष और उनकी उपलब्धियों के अलावा अन्य कुछ भी, किसी भी रूप में न हो।

भारतीय अकादमिकों ने आंबेडकर को वस्तुनिष्ठ तरीके से देखने का जो आह्वान किया है, अगर हम उस आह्वान के खिलाफ खड़े दलितों के विरोध को नजरअंदाज कर दें तो भी आप पाएंगे कि दलितों ने पिछले पांच दशक से स्कूली पुस्तकों के संदर्भ में आंबेडकर की अनदेखी पर चली आ रही चुप्पी पर कभी कोई विरोध प्रगट नहीं किया है।

हम लोग तो आरक्षण, शिक्षा, नौकरी, सामाजिक भेदभाव, हिंसा और शोषण जैसे मुद्दों पर विभिन्न प्रकार के राजनीतिक और सांस्कृतिक संघर्षों से ही जूझ रहे थे। इसलिए स्कूल और कॉलेज का पाठ्यक्रम कभी दलितों की प्राथमिकता बन ही नहीं पाया, हालांकि दलितों के मन में हमेशा इस बात का क्षोभ रहा है कि आंबेडकर को कभी भी किसी पाठ्यक्रम का हिस्सा क्यों नहीं बनाया गया। इसलिए आज जब हमारे महापुरुषों को एनसीइआरटी की पाठ्यपुस्तकों में स्थान मिलने लगा है तो यह हमारे लिए हर्ष का विषय है।

लेकिन एक दशक से अधिक समय से उच्च शिक्षा, दलित और आदिवासी विद्यार्थियों से भेदभाव के मुद्दों पर अपने काम के अनुभव के चलते इस कार्टून पर मेरी कुछ चिंताए हैं। इस कार्टून पर गैर-दलित छात्रों और शिक्षकों का क्या रुख होगा? कहीं यह कार्टून उन्हें डॉ आंबेडकर पर कोई घटिया टिप्पणी करने के लिए तो नहीं उकसाएगा? कहीं वे लोग संविधान निर्माण में हुई देर के लिए आंबेडकर को 'घोंघा' मानते हुए जिम्मेदार तो नहीं ठहराएंगे? यह कार्टून छात्रों और अध्यापकों के मन में व्याप्त जातिगत पूर्वग्रहों को बाहर तो नहीं ले आएगा?

यह दलित विद्यार्थियों के मन पर क्या प्रभाव छोड़ेगा, जो वैसे ही सवर्ण छात्रों के अनुपात में बेहद कम संख्या में होते हैं? क्या इस कार्टून के साथ लिखा पाठ विद्यार्थियों के मन में उपजी उस धारणा को हटा पाएगा, जो इस कार्टून से व्यक्त हो रही है? यों यह सिर्फ एक भोला-भाला कार्टून है। पर क्या कक्षा में पड़ने वाले इसके संभावित परिणाम को नजरअंदाज किया जा सकता है?

इन्हीं सब बातों के बीच मैं अपना एक अनुभव बांटना चाहता हूं। वर्ष 1995 की बात है, जब मायावती ने उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री का कार्यभार ग्रहण किया था। उसी साल अगस्त में बारहवीं पास करने के बाद मैंने एक प्रतिष्ठित इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिला लिया। यहां के विद्वान प्रोफेसरों में से एक ने हमारे परिचय के समय अस्सी विद्यार्थियों की कक्षा में हम आठ दलित और आदिवासी छात्रों की ओर उंगली दिखाते हुए कहा, ''नंबर हासिल करने के लिए तुम्हें ठीक से पढ़ना होगा। तुम्हें नंबर मायावती नहीं देंगी, मैं दूंगा।''

मुझे और उस प्रोफेसर को छोड़ कर इस पर पूरी कक्षा हंसने लगी। मैं अपने दलित-आदिवासी सहपाठियों से नहीं पूछ सका कि वे भी उस हंसी के साझीदार बने या नहीं? मैं यह भी नहीं समझ पाया कि प्रोफेसर का यह मजाक कोई कटाक्ष था या कुछ और! लेकिन इतना तय है कि यह मुझे छोड़ कर सभी विद्यार्थियों को हंसाने में कामयाब रहा।

इस एक कथन ने मुझे स्पष्ट कर दिया था कि मैं बाकी कक्षा से अलग हूं। गौरतलब है कि उस समय मायावती ने मूर्तियां और आंबेडकर पार्क नहीं बनवाए थे। तब उन पर किसी किस्म के भ्रष्टाचार के आरोप भी नहीं लगे थे और न ही उन्होंने नोटों की कोई माला पहनी थी। फिर भी, मायावती आज की तरह ही घृणा की पात्र थीं! क्या आज हमारी कक्षाएं जाति के पूर्वग्रह से मुक्त हो गई हैं? क्या अब वहां गैर-दलित विद्यार्थी और शिक्षक, डॉ आंबेडकर और संविधान निर्माण जैसे विषय पर आलोचनात्मक विचार रख सकते हैं?

इस कार्टून पर इतनी सारी चिंताओं के बावजूद मैं इसे एनसीइआरटी की पाठ्यपुस्तक में शामिल किए जाने का विरोध नहीं करूंगा। पर समाज में डॉ आंबेडकर और दलितों के प्रति इतनी घृणा और द्वेष देख कर यह जरूर कहूंगा कि अगर इसे शामिल करने से बचा जाता तो बेहतर होता।

जहां हमारे सांसद इस बात पर एकमत थे कि इस उम्र में विद्यार्थी परिपक्व नहीं होते इसलिए उनके पाठ्यक्रम में ऐसे कार्टून शामिल करना उचित नहीं, वहीं हमारे अकादमिकों ने भी एकमत से संसद का विरोध करते हुए इस कार्टून को पाठ्यक्रम में रोचकता के साथ-साथ आलोचनात्मक बुद्धि के विकास के लिए जरूरी बताया। मैं न ही ग्यारहवीं कक्षा के बच्चों को इतना कच्चा मानता हूं न ही मुझे उनकी या उन्हें पढ़ाने वालों की 'जाति' और 'डॉ आंबेडकर' से जुड़ी आलोचनात्मक समझ पर कोई खास विश्वास है। हालांकि इस बात पर मुझे पूरा यकीन है कि कार्टूनों को शामिल किए जाने से पढ़ाने की विधा में ताजगी आएगी, स्कूली पाठ्यक्रम की नीरसता खत्म होगी और बच्चे किताबों को जीवन के यथार्थ से जोड़ पाएंगे। पर एक फिक्र भी है- जब विद्यार्थी इस कार्टून को अपने व्यक्तिगत जीवन से जोड़ कर देखेंगे तो क्या वे अपने पूर्वग्रह से निकल पाएंगे?

दलित विद्यार्थियों के लिए कक्षा ही एक ऐसी जगह होती है जहां वे गैर-दलित विद्यार्थियों के साथ वक्त साझा करते हैं, अन्यथा शेष कहीं भी इन दोनों तबकों का कोई मेल नहीं होता है। अगर कोई दलित-अनुभवों को सुने तो उनमें उनके स्कूली दिनों की जाति-पीड़ा की ध्वनि अक्सर सुनाई देती है- कि कैसे सहपाठी, अध्यापक उनसे भेदभावपूर्ण व्यवहार किया करते थे!

इस संदर्भ में हमें समझना होगा कि जहां हमारा समाज जाति-पूर्वग्रहों से ग्रस्त है वहां यह कार्टून आग में घी डालने का काम कर सकता है।

पंडित नेहरू या अन्य राजनेताओं पर बने कार्टून इन नेताओं की जाति से आने वाले विद्यार्थियों के मन पर कोई विपरीत असर नहीं डालेंगे। पर क्या योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर दलित समुदाय को इस बात का आश्वासन देंगे कि डॉ आंबेडकर के संदर्भ में ऐसा नहीं होगा?

क्या वे आश्वस्त करेंगे कि इस कार्टून से विद्यार्थियों में दलितों के प्रति जातिगत पूर्वग्रह नहीं बढ़ेगा? क्या उन्हें अब डॉ आंबेडकर को कोसने के लिए एक और मुद्दा नहीं मिलेगा कि इसी व्यक्ति के कारण हमारे संविधान निर्माण में इतनी देरी हुई? क्या अब गैर-दलित छात्रों को दलित विद्यार्थियों को चिढ़ाने का एक और अवसर नहीं मिलेगा? क्या यह फिक्र आपको 'कट्टरवाद' लगती है? क्या ये चिंताएं आपको डॉ आंबेडकर को पैगंबर मानने से उपजी लगती हैं?

इस कार्टून पर इतनी सारी चिंताओं के बावजूद मैं इसे एनसीइआरटी की पाठ्यपुस्तक में शामिल किए जाने का विरोध नहीं करूंगा। पर समाज में डॉ आंबेडकर और दलितों के प्रति इतनी घृणा और इतना द्वेष देख कर मैं इतना जरूर कहूंगा कि अगर इसे शामिल करने से बचा जाता तो बेहतर होता।

पिछले दिनों इस संबंध में संसद के प्रस्ताव पर तीखी प्रतिक्रिया हुई। हमारे अकादमिकों, पत्रकारों और टिप्पणीकारों ने इस पर यह कह कर नाराजगी दिखाई कि वे इसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रहार मानते हैं। उनकी नजरों में आंबेडकर, असहनशील लोगों के पैगंबर हो गए। उन्हें संसद का यह कदम वोट बैंक की राजनीति को बढ़ाने वाला लगा। उन्होंने इसे दलित कट्टरवाद का उभार और जाने क्या-क्या नाम दे डाले। कुछ लोग तो इतने अधिक आक्रोश में आ गए कि उन्होंने दलितों के कार्टून-विरोध को खाकी-चड्ढी वालों से भी घटिया बता डाला। एक व्यथित विद्वान ने, जो अपना ब्लॉग भी चलाते हैं, एक कदम आगे बढ़ कर यहां तक कह डाला कि अब तो दलितों को ही आंबेडकर की धरोहर का विवेचन करने दो।

गौरतलब है कि असंख्य दलितों ने डॉ आंबेडकर की मूर्तियों का निर्माण कर अपने संघर्ष का सूत्रपात किया और उन्होंने अपने दर्द, तकलीफों और विद्रोह को दलित साहित्य में प्रस्फुटित किया। आंबेडकर की जयंती और परिनिर्वाण दिवस पर उमड़ने वाली लाखों की भीड़, उनके नाम पर बने अनेक राजनीतिक और सामाजिक समूह, छात्र संगठन और कर्मचारी संगठन उनके कारवां को आगे बढ़ा रहे हैं। सभी प्रयास कर रहे हैं उन सार्वजनिक स्थानों पर दावेदारी के लिए, जहां से उनको अब तक मना किया जाता रहा था। उनके ये सब प्रयास डॉ आंबेडकर को सीमांत दायरे से बाहर लाने में कामयाब हुए हैं।

अब हर कोई इस मुल्क को बनाने में उनके किरदार, उनकी विरासत की महत्ता और उनके महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण किसी भी नायक-पूजा के खिलाफ उनकी फटकार और संविधान निर्माण में उनकी भूमिका पर बात कर रहा है। वहीं लगातार यह भी दोहराया जा रहा है कि 'कट्टरपंथी' दलितों को आंबेडकर के नाम पर ऐसी शर्मनाक हरकत कर पाठ्यपुस्तक से कार्टून हटवा कर उन्हें अपमानित नहीं करना चाहिए।

यहां तक कि जिन अकादमिकों ने आंबेडकर को कभी पाठ्यक्रमों में शामिल नहीं होने दिया और हमेशा उनका विरोध करते हैं, आज अपना राग बदल कर अचानक आंबेडकर द्वारा तस्दीक 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' की याद दिलाने लग गए हैं। उनका पिछला लेखन देखने के बाद अब उनके मुंह से आंबेडकर के कार्यों की तारीफ बहुत सकून दे रही है। जो शोधार्थी जाति के विषय पर कार्य कर रहे हैं उन्हें इन तर्कों का दस्तावेजीकरण करना चाहिए ताकि पता चले कि आज दलित प्रतिरोध के दौर में इन लोगों के विचारों में आखिर कितनी ईमानदारी है!

शिक्षा का अधिकार कानून

या बच्चों को मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम

- यह छह से चौदह वर्ष की आयु के हर बच्चे के लिए शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाता है और प्राथमिक विद्यालयों में न्यूनतम मानक निर्धारित करता है
- सभी निजी स्कूलों के लिए वंचित परिवारों के बच्चों के लिए 25% सीटें आरक्षित करना जरूरी (राज्य द्वारा सार्वजनिक-निजी भागेदारी योजना के तहत पूरा हो)
- प्रवेश के लिए बच्चे या माता पिता का साक्षात्कार नहीं लेने और डोनेशन या कैपिटेशन शुल्क नहीं लेने का प्रावधान
- प्राथमिक शिक्षा पूरी होने तक बच्चे को स्कूल से निष्कासित नहीं करने और उसके लिए बोर्ड परीक्षा पास करना जरूरी नहीं बनाने की व्यवस्था
- समान उम्र के छात्रों के बराबर लाने के लिए स्कूल छोड़ने वालों के विशेष प्रशिक्षण का प्रावधान

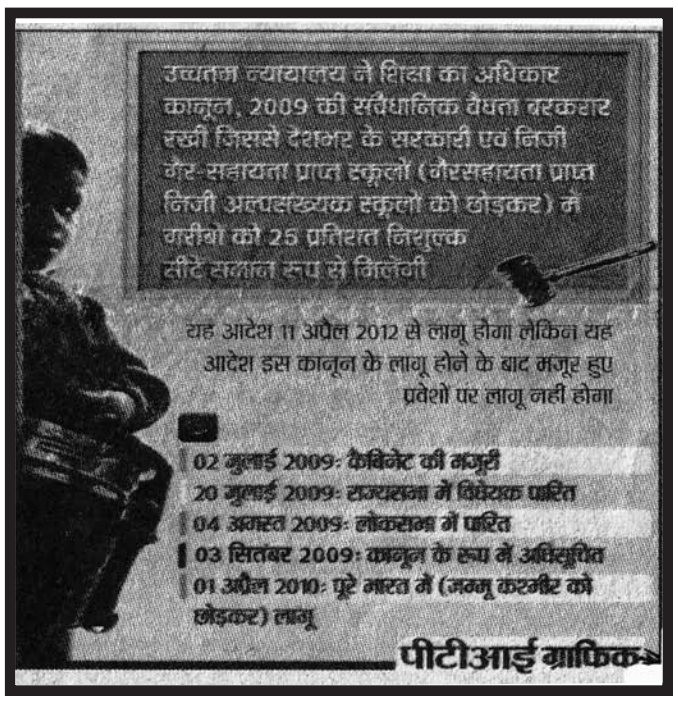

आओ पढ़े आगे बढ़े.....

लेकिन बाकी हैं कुछ सवालों के जवाब

■ रंजीत वर्मा

लेखक विधि विषयों के जानकार हैं।

शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 को विभिन्न निजी स्कूलों द्वारा अदालतों में दी गई चुनौतियों का पटाक्षेप सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के साथ हो गया। निजी स्कूलों के व्यवस्थापक उक्त अधिनियम की धारा 12(1)(सी) को लेकर क्षुब्ध थे। इस धारा में प्रावधान है कि प्रत्येक निजी स्कूल को चाहे उसे सरकार द्वारा वित्तीय सहायता मिलती हो या नहीं 25 फीसदी सीटें गरीब बच्चों के लिए आरक्षित रखनी होंगी, जिन्हें निःशुल्क शिक्षा पाने का अधिकार इस कानून के तहत सरकार ने दिया है।

सर्वोच्च न्यायालय का फैसला अब निजी स्कूलों के लिए बाध्यकारी है। देखा जाए तो 2009 में जो कानून बना था, अब उसके लागू होने के दिन आ गए हैं। लेकिन लगता नहीं कि इस साल यह कानून लागू हों पाएगा, क्योंकि देश भर के स्कूलों में 1 अप्रैल से पहले ही नामांकन प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। क्या फैसला देने के पहले स्कूलों से यह कहा गया था कि वे 2012-13 सत्र की 25 प्रतिशत सीटें फैसला आने के बाद भरेंगे। यह बात समझ से परे है कि जब मुकदमे में बहस पिछले साल अगस्त में ही समाप्त हो चुकी थी तो क्या फैसला 1 अप्रैल से पहले मार्च की किसी तारीख में नहीं दिया जा सकता था। बहरहाल बात सिर्फ इतनी ही नहीं है बल्कि इसके बावजूद कई सवाल और हैं जो किसी को परेशान कर सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय को भी चाहिए था कि वह अपने फैसले से शिक्षा का अधिकार कानून की वैधता पर अपनी मुहर ही नहीं लगाता, बल्कि उन सवालों का जवाब भी सरकार से देने को कहता।

इस कानून के तहत गरीब बच्चों का स्कूलों में नामांकन का अधिकार सिर्फ पड़ोस के स्कूल पर दिया गया है। यानी कहा जा सकता है कि यह अधिकार सिर्फ शहरी बच्चों को दिया गया है क्योंकि गांवों में पड़ोस क्या बल्कि उससे भी कहीं आगे दूर दूर तक कोई स्कूल नहीं होता। सरकार से पूछा जाना चाहिए था कि उसने क्यों गांवों के गरीब बच्चों को इस अधिकार से वंचित रखा। दूसरी बात यह कि शहरों में भी पड़ोस में रहने वाले सभी गरीब बच्चों का नामांकन इस कानून या फैसले के तहत स्कूल में हो जाए जरूरी नहीं क्योंकि उनकी संख्या कई बार कहीं ज्यादा हो सकती है। क्यों नहीं वे उन स्कूलों में भी जाएं जो अमीरों के मोहल्लों में होते हैं। कई स्कूल ऐसे भी होते हैं जहां छात्रों को हॉस्टल में रहना पड़ता है लेकिन इस कानून के तहत गरीब बच्चों को हॉस्टल में निःशुल्क रखे जाने का कोई प्रावधान नहीं रखा गया है। अगर पड़ोस में ऐसा ही बोर्डिंग स्कूल हो तो वहां आसपास के गरीब बच्चे कहां पढ़ने जाएंगे। फिर एक सवाल यह भी है कि गैर सहायता प्राप्त अल्पसंख्यक स्कूलों को इस कानून की हद से बाहर क्यों रखा गया है। चाहे वह मदरसा हो या मिशनरी या आर्य समाजी उन्हें भी कहना चाहिए था कि वे जिस अल्पसंख्यक समुदाय के उत्थान के लिए शैक्षणिक संस्थान खोले हैं, उसी समुदाय के गरीब बच्चों के लिए वे 25 प्रतिशत निःशुल्क सीटें आरक्षित रखें। कई बार इस तरह के स्कूल उन्हीं इलाकों में होते हैं जहां उनके समुदाय के लोग रहते हैं तो फिर ऐसे बच्चे पड़ोस में कौन सा स्कूल ढूंढेंगे।

इन सवालों के बीच एक महत्वपूर्ण सवाल यह भी है कि यह अधिकार सिर्फ 14 साल तक के बच्चों को ही क्यों दिया गया है? सर्वोच्च न्यायालय को चाहिए था कि वह सरकार से इसका जवाब मांगता। जब कोई बच्चा छह साल की उम्र में स्कूल में दाखिला लेगा तो 14 साल तक की उम्र में वह स्कूल की पढ़ाई पूरी नहीं कर सकता, ज्यादा से ज्यादा वह आठवीं कक्षा तक की पढ़ाई कर सकता है। फिर जाहिर है कि वह उस महंगे स्कूल में अपनी आगे की पढ़ाई पूरी नहीं कर पाएगा और किसी सस्ते या सरकारी स्कूल में नाम लिखाना भी उसके लिए शायद संभव नहीं हो पाएगा, क्योंकि इस कानून के लागू किए जाने के बाद जिस तादाद में बच्चों की संख्या बढ़ेगी उसी अनुपात में स्कूलों की क्षमता न सरकार बढ़ा पाएगी और न निजी स्कूल वाले ही। यानी इतनी भीड़ होगी हर जगह कि आठवीं के बाद अगर उसके अभिभावक उस स्कूल की फीस देने की स्थिति में नहीं होंगे तो उसे बाहर का रास्ता देखना होगा और फिर वे वही जमात बनाएंगे, जो आज बिना आठवीं पास किए वे बना रहे हैं।

फर्क यह हो सकता है कि आज जिस तरह के ड्राइवर-कंडक्टर होते हैं बसों के या छोटे-बड़े होटलों के बेयरा, दरबान या दफ्तरों के चपरासी या स्टेशनों पर जो कुली होते हैं, उनसे बेहतर व्यवहार शायद ये करें और सबसे बड़ी बात यह कि ये अंग्रेजी समझेंगे और थोड़ी बहुत अंग्रेजी बोलेंगे भी और तब सरकार को यह चिंता नहीं होगी कि इस देश में जो विदेशी उद्यमियों, खिलाड़ियों, सैलानियों, राजनयिकों की आने वाले दिनों में बड़ी तादाद होगी, उन्हें आसानी हो जाएगी। जो उच्च तबका है उसे भी 'समझदार' सहायक मिल जाएंगे, जो अपने मालिक को अच्छी तरह समझ रहे होंगे क्योंकि आठवीं तक दोनों की शिक्षा आखिर एक ही जो होगी।

यह अधिकार से पाई जा रही शिक्षा नहीं है बल्कि दया में दी जा रही शिक्षा है, जिसका मकसद और चाहे जो हो लेकिन गरीब बच्चों को उच्च शिक्षा की ओर ले जाना नहीं है। जरा सोचिए आखिर 14 साल तक ही यह अधिकार क्यों दिया जा रहा है। क्या ऐसा नहीं लगता कि चूंकि बाल श्रम कानून के तहत 14 साल के बाद बच्चे काम पर लग सकते हैं, इसलिए शायद सरकार ने सोचा हो कि उसे तभी तक पढ़ने का अधिकार दिया जाए। उसके बाद उसे पढ़ने की क्या जरूरत।

verma.ranjeet@gmail.com

अधिकार एक अंतर्विरोध अनेक

शिक्षा

आनंद कुमार

स्वाधीनता के साथ ही हमने अपने संविधान में यह संकल्प लिया था कि आजाद भारत शुरू के दस बरस में ही चौदह बरस की उम्र तक के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क, समान और अच्छी आरंभिक शिक्षा की व्यवस्था करेगा। इस आश्वासन को पूरा करने की दिशा में अब तक की सरकारें कछुआ चाल से चलती रही हैं, जिसके कारण आजादी के 65 साल बाद भी दुनिया में भारत निरक्षर स्त्री-पुरुषों का सबसे बड़ा देश है। निरक्षरता की निरंतरता निर्धनता के दलदल में फंसे चालीस फीसद परिवारों के बच्चों में अब भी जारी है। इसलिए शिक्षा के अधिकार की कानूनी गारंटी की व्यवस्था हमारी आजादी और लोकतंत्र दोनों के अधूरेपन को दूर करने की अभिनंदनीय शुरुआत है। अब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि शिक्षा के अधिकार को अमली जामा पहनाने में हम कहां तक गंभीर हैं और संप्रग सरकार की कानून बनाने के कागजी कदम की आगे की उपलब्धियां क्या हैं?

अब तक की जो कोशिशें हैं, उनमें तीन बड़ी कमियों का सच देश के सामने है। अच्छे शिक्षकों की कमी, संतोषजनक विद्यालय व्यवस्था और निजी क्षेत्र द्वारा चलाए जा रहे विद्यालयों में उपेक्षा की भावना। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय ने निजी विद्यालयों को अपनी एक चौथाई जगहें साधनहीन वर्गों के बच्चों को उपलब्ध कराने का आदेश देकर निजी क्षेत्र को सहयोग का खुला निर्देश दे दिया है। इसके सकारात्मक परिणाम आने की आशा करनी चाहिए क्योंकि आज शिक्षा के क्षेत्र में केंद्रीय विद्यालय और नवोदय विद्यालय के अपवाद को छोड़कर समूची सरकारी प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था लड़खड़ाई हुई है।

लेकिन शिक्षा के अधिकार को असरदार तरीके से कार्यान्वित करने के लिए केंद्र और राज्य सरकारों को कौन आदेश देगा? जिला परिषद और ग्राम पंचायतों को कौन कर्तव्यनिष्ठ बनाएगा? इसके लिए राजनीतिक इच्छाशक्ति की जरूरत है, ऐसा कहा जा रहा है। मेरी समझ से यह एक निर्गुण शब्द है। सत्ता की इच्छाशक्ति है तो सत्ता का समाज के लिए सदुपयोग करने के कर्त्तव्य के लिए अलग से कौन-सी इच्छाशक्ति की तलाश है..। असल में इसके लिए समतामूलक समाज बनाने के संवैधानिक आदर्श के प्रति ईमानदारी और प्रतिबद्धता की जरूरत है। हमारी शिक्षा व्यवस्था अभी भी भाषा, वर्ग और गांव बनाम शहर और स्त्री बनाम पुरुष के चार बड़े अवरोधों से पीड़ित है। अधिकांश विद्यालयों में दर्जा एक से ही अंग्रेजी को माध्यम बनाने का नया सिलसिला शुरू हो चुका है। इसमें निहित पूर्वाग्रह की उपेक्षा की जा रही है। सुशिक्षित परिवारों के बच्चों को निरक्षर परिवारों के बच्चों की तुलना में खुली बढ़त का भेद आरंभिक शिक्षा माध्यम की भाषा में छिपा हुआ है। दूसरी समस्या संपन्न और विपन्न वर्ग के बच्चों के परस्पर फासले की है। संपन्न वर्गों के बच्चे न सिर्फ अत्यंत सुविधासंपन्न विद्यालयों में पढ़ाए जा रहे हैं और उनकी पढ़ाई में विद्यालय के समानांतर ट्यूशन आदि की सुविधा उपलब्ध है। जबकि विपन्न बच्चों के लिए सीमित सुविधाओं वाले विद्यालयों का ही दरवाजा खुल पा रहा है।

- निरक्षरता की निरंतरता निर्धनता के दलदल में फंसे चालीस फीसद परिवारों के बच्चों में अब भी जारी है। इसलिए शिक्षा के अधिकार की कानूनी गारंटी की व्यवस्था हमारी आजादी और लोकतंत्र दोनों के अधूरेपन को दूर करने की अभिनंदनीय शुरुआत है
- लेकिन एक तरफ शिक्षा के अधिकार को नागरिकों का मूल अधिकार बनाना और दूसरी ओर समूचे शिक्षा तंत्र को अराजकता और स्तरहीनता के दलदल में धकेलने की प्रक्रिया की अनदेखी करना परस्पर अंतर्विरोधी है

ट्यूशन-कोचिंग जैसी सुविधाओं का प्रबंध सरकार द्वारा वंचित समूहों के लिए गठित आयोगों की तरफ से खानापूरी के रूप में किया जाता है। जब 77 प्रतिशत कामकाजी भारतीय के पास 20 बीस रुपया खर्च के लिए उपलब्ध है तो वह पहले बच्चों का पेट भरेगा या दिमाग की खुराक का प्रयास करेगा! गांव और शहर की शिक्षा का अंतर तो नगरीकरण को प्राथमिकता दे चुकी हमारी विकास दिशा में चर्चा के लायक भी नहीं माना जा रहा है; जबकि दो तिहाई भारत गांव में ही रह रहा है। इसी अंतर्विरोध को इंडिया बनाम भारत की लड़ाई भी कहा गया है।

लड़कियों के लिए उपलब्ध पढ़ाई की सुविधाओं का यक्ष प्रश्न सीमित समाधान के आगे नहीं बढ़ पा रहा है। भाषा, वर्ग और गांव-शहर की दीवारों को लांघने के बाद भी भारत की बेटियां शिक्षा के अधिकार के लिए जरूरी पारिवारिक और सामाजिक अनुकूलता की प्रतीक्षा कर रही हैं। बिना लिंगभेद की जड़ों को खत्म किए हमारी शिक्षा अधिकार आधारित नई कोशिशें आधे-अधूरे परिणामों के लिए अभिशप्त रहेंगी। शिक्षा के अधिकार के लागू होने के साथ ही हमारे देश की शिक्षा व्यवस्था में व्याप्त क्षेत्रीय विषमता को भी समयबद्ध तरीके से समाप्त करने की चुनौती ने नई प्रासंगिकता प्राप्त की है। शिक्षा के अधिकार के कार्यान्वयन में निर्धनता पीड़ित भारतीय राज्यों को शेष भारत के सहायता की जरूरत होगी, अन्यथा विद्यालयों की कमी, शिक्षकों का अभाव और साधन की समस्या- पैसे की कमी के स्थाई बहाने में उलझी रहेगी। इसलिए योजना आयोग की निगरानी में शिक्षा की दृष्टि से सभी पिछड़े जिलों के लिए एकमुश्त राशि की अगले पांच बरस तक लगातार व्यवस्था करनी पड़ेगी अन्यथा 'हाथी के दांत खाने के और दिखाने के और' वाला फासला बना रहेगा।

यह अच्छी बात है कि शिक्षा के अधिकार के कानून को लेकर शुरू से ही पूरे देश में सतर्कता दिखती है। जिले-जिले से इसके अधूरे अमल की जानकारी मीडिया द्वारा देश को मिल रही है। इस सवाल पर विभिन्न दलों की सूबाई सरकारों का तुलनात्मक मूल्यांकन भी किया जा रहा है। फिर केंद्र में सरकार चला रहे संप्रग के समक्ष भी शिक्षा के अधिकार के क्रियान्वयन को 2014 के आम चुनाव में अपनी सबसे जनहितकारी पहल के रूप में पेश करने की विवशता है। इससे यह आशा है कि जनता के दबाव और राजनीतिक नेतृत्व के स्वार्थ के संयोग से शिक्षा के अधिकार के पूर्ण कार्यान्वयन के लिए अगले दो वर्षों में जरूर आगे बढ़ा जाएगा। उम्मीदों का तोड़ना कुर्सी से हटाए जाने में बदल सकता है, ऐसे में कौन अपनी कुर्सी गंवाना चाहेगा?

इन सब चुनौतियों से ज्यादा बड़ी समस्या शिक्षा के क्षेत्र में गहराई तक फैले भ्रष्टाचार की हो गई है। विद्यार्थी की भर्ती से लेकर उसके परीक्षाफल तक में पैसे के लेनदेन का चौतरफा रोग फैल गया है। चूंकि बिना शिक्षा के अब रोजगार ही नहीं विवाह तक असंभव है, इसलिए चाहे जिस कीमत पर हो, हर परिवार शिक्षा के व्यवसायीकरण के नए सच को बर्दाश्त करने के लिए अभिशप्त है। दूसरी तरफ आज शिक्षक का पेशा अत्यंत शोषणमय हो चुका है। प्राथमिक विद्यालय से लेकर वित्तरहित महाविद्यालय तक दो हजार रुपये मासिक से दस हजार रुपये तक की राशि के जरिये आप उच्चशिक्षा प्राप्त युवक-युवतियों को गृह विज्ञान से लेकर कंप्यूटर विज्ञान की पढ़ाई के लिए अपना कर्मचारी बना सकते हैं। आप जिन परिस्थितियों में अपना शिक्षा व्यापार चला रहे हैं, उसके बारे में कोई पूछने वाला नही है। क्योंकि राज्य की तरफ से आपकी संस्था को कोई अनुदान नहीं दिया जा रहा है। यह राज्य की शिक्षा क्षेत्र में बढ़ रहे शोषण की जानबूझकर अनदेखी है। ऐसे अनैतिक परिवेश में चल रहा शिक्षण कार्य किस हद तक व्यक्तित्व निर्माण और आदर्श नागरिकता में योगदान कर पाएगा, यह सवाल अभिभावक से लेकर मीडिया तक सबको पूछना चाहिए।

एक तरफ शिक्षा के अधिकार को नागरिकों का मूल अधिकार बनाना और दूसरी ओर समूचे शिक्षा तंत्र को अराजकता और स्तरहीनता के दलदल में धकेलने की प्रक्रिया की अनदेखी करना परस्पर अंतर्विरोधी है। शिक्षा के क्षेत्र में फैल रही अस्वस्थता दूर किए बिना शिक्षा का अधिकार कानून बनाकर संतुष्ट हो जाना गैर जिम्मेदारी है। शिक्षा के अधिकार को नागरिक निर्माण और देश-निर्माण से जोड़ने के लिए तत्काल शासकों, शिक्षकों, अभिभावकों और विद्यार्थियों का संयुक्त अभियान चलाना होगा। असाधारण हस्तक्षेप बिना असरदार बदलाव की आशा करना अपने को भुलावे में रखना है।

(लेखक जेएनयू में प्राध्यापक हैं)

फिर स्त्री-पुरुष समानता के मुद्दे का क्या होगा?

अंजलि सिन्हा

लेखिका स्त्री अधिकार संगठन से संबद्ध हैं।

> देश के कइ न्यायालयों में ऐसे केस दायर हुए हैं जब कोर्ट को औरत के गृह कार्य की कीमत तय करनी पड़ी है। औरत के काम की महत्ता कई तरह से गिनाई जाती है। कहा जाता है कि औरत सिर्फ घर का काम ही नहीं करती बल्कि भविष्य का कामगार भी तैयार करती है।

पहली बार किसी सरकारी स्कीम के तहत गृहिणियों को ₹1,000 प्रतिमाह भत्ते की शुरुआत गोवा में हो गई है। वर्तमान सत्तासीन भाजपा ने चुनाव के दौरान अपने घोषणा पत्र में ऐलान किया था कि जीतने और सरकार में आने पर वह गृहिणियों को भत्ता देगी। यह भत्ता उन परिवारों को मिलेगा जिनकी आय प्रतिवर्ष 3 लाख रुपए से कम होगी। सरकारी सूचना में बताया गया है कि लगभग सवा लाख परिवार इसका लाभ उठाएंगे।

कुछ गृहिणियों से जब इस बारे में राय मांगी गई तो कुछ ने कहा कि इससे हमें समाज में सम्मान मिलेगा, किसी ने कहा कि वह हमारा पैसा होगा, छोटी-मोटी चीजों के लिए पति से पैसा नहीं मांगना पड़ेगा तथा यह भी राय आई कि हम 24 घंटे 7 दिन मेहनत करते हैं लेकिन हमें कभी कोई मेहनताना नहीं मिलता है, इससे हमें आजादी का एहसास होगा आदि।

सच बात है हाथ में पैसे आएंगे तो किसे बुरा लगेगा। लेकिन सोचना तो यह है कि वह औरत को अपनी गरिमा, आजादी, आत्मविश्वास कितना दिलाएगा और क्या वही उसका मेहनताना होगा। देखना होगा कि औरत दूरगामी रूप से घर और समाज में क्या लक्ष्य हासिल करना चाहती है। एक तरफ औरत की स्थिति का सवाल है, दूसरी तरफ इन राजनीतिक पार्टियों का सवाल है जिन्हें चुनाव के समय लोगों के दुख, तकलीफ याद आते हैं फिर उनमें से कुछ वायदों को वे पूरा कर देते है। निश्चित ही इस स्कीम को महिलाओं के वोट बैंक को मजबूत करने के तौर पर देखा जा सकता है।

यूं तो घोषणा पत्र में युवकों को भी बेरोजगारी भत्ता देने की बात की गई थी। मगर इन दोनों भत्तों के फर्क को आसानी से देखा जा सकता है। बेरोजगार युवक -युवतियों को रोजगार मुहैया कराना सरकार की जिम्मेदारी होती है। सरकार को ऐसे इंतजाम करने होते हैं, ऐसी नीतियां बनानी होती हैं जिसमें रोजगार के अवसर उपलब्ध हो सकें। शिक्षा की दिशा पर भी विचार करना होता है ताकि उसके जरिए कुशल एवं सक्षम व्यक्तियों का निर्माण हो सके। जब तक सरकार यह जिम्मेदारी पूरी नहीं करती और युवाओं को नौकरी नहीं मिलती है तब तक बीच की अवधि के लिए उसे बेरोजगारी भत्ता की व्यवस्था करनी होती है।

दूसरी तरफ, गृहिणियों को लेकर सरकार की कोई जिम्मेदारी नहीं होती है। यद्यपि महंगाई उन्हें प्रभावित करती है लेकिन वह तो वैसे हर इंसान को प्रभावित करती है। लेकिन यह भी सच है कि इसमें सरकार की भलाई है। अगर ये सारी गृहिणियां रोजगार पाने का दावा करने लगें तो बेरोजगारों की फौज में और कितनी बढ़ोत्तरी हो जाएगी इसका सहज अंदाजा लगाया जा सकता है।

दरअसल महत्वपूर्ण यह है कि घर का काम और उसके महत्व को आंकना और उसका पारिश्रमिक तय करना आदि पिछले तीस-चालीस साल से मुद्दा बना हुआ है। अर्थशास्त्रियों एवं सरकारों ने जब कर्मचारियों का वेतन तय किया तो कहा कि इसमें उसके परिवार के भरण-पोषण का आयाम ध्यान में रखा जाता है। फैमिली वेज की अवधारणा में यही था कि चूंकि कर्मचारी को मेहनत करने लायक बनाए रखने के लिए परिवार का योगदान महत्वपूर्ण है इसलिए मजदूर के वेतन में परिवार की आय भी अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ी होनी चाहिए।

ये सारे विचार जनपक्षीय एवं महिलाओं को मदद करने वाले लगते हैं लेकिन औरत यहां बराबर की कर्मचारी और प्रत्यक्ष आय अपने मेहनत के बदले हासिल करनेवाली नहीं बनती है, वह बाहर जाकर कमाने वाले का पोषण करती है ताकि उसका भी गुजारा चलता रहे। दूसरी बात यह कि औरत के पारिश्रमिक की चर्चा कानून की निगाह में तब करनी पड़ती है जब वह किसी हादसे या दुर्घटना में मारी जाए और उसका मुआवजा उसके परिवार को मिलना हो। देश के कई न्यायालयों में ऐसे केस दायर हुए हैं जब कोर्ट को औरत के गृह कार्य की कीमत तय करनी पड़ी है। औरत के काम की महत्ता कई तरह से गिनाई जाती है। कहा जाता है कि औरत सिर्फ घर का काम ही नहीं करती बल्कि भविष्य का कामगार भी तैयार करती है।

चूंकि पहली बार गोवा सरकार ने नगद पैसे के रूप में गृहिणी का पद सृजित कर उन्हें प्रत्यक्ष लाभ की बात कही है और यह मांग देखा देखी बनी रहेगी इसलिए इस मुद्दे पर समझ बनाना जरूरी है। दूरगामी रूप से यह औरत को बराबरी का दर्जा दिलाने में बाधा ही बनेगा।

anjali.sinha1@gmail.com

जेंडर मुद्दों की सरकारी समझ में और विस्तार की जरूरत

अंजलि सिन्हा

लेखक स्त्री अधिकार संगठन से संबद्ध हैं।

> घर के अंदर के उत्पीड़न तथा गैरबराबरी पर काबू पाने के लिए भी आवश्यक है कि औरत की सार्वजनिक दायरे में मजबूत स्थिति बने तथा वह निर्भर प्राणी न बनी रहे। दरअसल सरकारी और सामाजिक स्तर पर जेंडर समानता की समझ और नीति को दुरुस्त करने की जरूरत है।

क्या गर्भवती महिलाएं अध्यापन नहीं कर सकती हैं? हाल ही में हरियाणा सरकार के एक निर्देश को देखें, तो ऐसा ही लगता है, जो उसे प्रबल जनविरोध के चलते दो-चार दिन में वापस लेना पड़ा। लेकिन इस मुद्दे तथा कुछ और मुद्दों का विश्लेषण कर हम देख सकते हैं कि सरकार की अपनी समझ ही गलत और अस्पष्ट है तो वह कैसी नीति तैयार करेगी।

मालूम हो कि पिछले दिनों हरियाणा शिक्षा नियम की अधिसूचना में कहा गया था कि 12 सप्ताह से अधिक की गर्भवती महिलाएं जिनकी शिक्षक के रूप में भर्ती हुई है, वे अपनी डयूटी जॉइन नहीं कर सकेंगी। इस दौरान वे अपनी तनख्वाह तथा अन्य सुविधाएं पाने की हकदार नहीं होंगी, जब तक उनकी डिलिवरी नहीं हो जाती है और सीनियर डॉक्टर या स्वास्थ्य अधिकारी द्वारा फिटनेस सर्टिफिकेट जमा नहीं करा देती हैं। राज्य के शिक्षा विभाग के डायरेक्टर समीर पॉल से जब इस मसले पर बात की गई थी तो पता चला कि वह इस निर्देश को गलत नहीं मानते हैं। उनका कहना था कि यह महिलाओं के खिलाफ भेदभाव नहीं है बल्कि सिर्फ विद्यार्थियों के हितों को ध्यान में रखा गया है ताकि उनकी पढ़ाई का नुकसान न हो। उन्होंने यह भी कहा कि ऐसा सिर्फ हरियाणा में ही नहीं बल्कि हिमाचल प्रदेश में भी ऐसा ही नियम है। हरियाणा टीचर्स एसोसिएशन ने इस नियम के विरोध में मुख्यमंत्री भूपेंद्र सिंह हुड्डा को ज्ञापन दिया और इसके खिलाफ संघर्ष का ऐलान किया। मुख्यमंत्री ने शिक्षकों की भर्ती के मामले में अनुबंध की जगह नियमित भर्ती की मांग को स्वीकारने के साथ ही शिक्षा अधिनियम अधिसूचना से उस हिस्से को भी हटाए जाने को मंजूरी दी है, जिसमें 12 सप्ताह की गर्भवती शिक्षिका पर रोक लगाई गई है।

दूसरी तरफ हम यह भी पाते हैं कि गर्भवती महिलाओं को अपनी तनख्वाह से भी वंचित करने के लिए तत्पर सरकार ने चाइल्ड केयर लीव योजना को फटाफट अपने राज्य में भी लागू की हैं। ध्यान रहे कि कुछ साल पहले केंद्र सरकार की तरफ से चाइल्ड केयर लीव की योजना बनाई गई थी, जो बच्चों की देखभाल के लिए तथा उनकी स्वास्थ्य और पढ़ाई की जरूरतों के अनुरूप छुट्टी की सुविधा हासिल करने के लिए मंजूर की गई थी। इसके तहत दो बच्चों के 18 साल के होने के तक ढाई-ढाई साल तक के अवकाश की व्यवस्था की गई है।

केंद्र सरकार की इस योजना को अपने यहां लागू करने में अग्रणी हरियाणा सरकार की विरोधाभासी-सी लगने वाली ये दोनों बातें एक ही सिक्के के दो पहलू है। दोनों में ही एक तरह से औरत के काम करने का अधिकार छीना जा रहा है। सार्वजनिक दायरे में नौकरी करके पैसे कमाना उसका समान अधिकार है।

हालांकि हरियाणा सरकार ने फिलहाल अपना आदेश वापस ले लिया है लेकिन देखना यह है कि वह राज्यस्तर पर महिलाओं के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए किस प्रकार की नीतियां तैयार करती है। सार्वजनिक दायरे में वहां महिलाओं की उपस्थिति बढ़ाने के लिए भी विशेष प्रयास करने होंगे ताकि पूरे समाज में महिलाओं के प्रति नजरिया बदले और स्वीकृति भाव बढ़े।

आए दिन यौन हिंसा की घटनाएं खबरों में छाई रहती हैं। इसके लिए जरूरी है कि अपराधियों की धरपकड़ के साथ ही लोगों में जेंडर संवेदनशीलता बढ़ाई जाए तथा यह भी प्रयास करना होगा कि सार्वजनिक स्थलों पर महिलाओं की मजबूत स्थिति बने और पर्याप्त संख्या में उनकी उपस्थिति बढ़ें। कुछ समय पहले पुलिस महकमे में भी उनकी कम संख्या पर चिंता व्यक्त की गई थी। यहां तक कि सर्वेक्षण में यह भी देखा गया था कि वहां की युवतियां पुलिस सेवा में जाना नहीं चाहतीं। निश्चित ही इसके कारणों पर गौर करना चाहिए, ताकि वहां भी उनकी भर्ती को समान किया जाना चाहिए।

घर के अंदर के उत्पीड़न तथा गैर-बराबरी पर काबू पाने के लिए भी आवश्यक है कि सार्वजनिक दायरे में उसकी मजबूत स्थिति बने तथा वह निर्भर प्राणी न बनी रहे। कुल मिलाकर सरकारी और सामाजिक स्तर पर जेंडर समानता की समझ और नीति को दुरुस्त करने की जरूरत है।

anjali.sinha1@gmail.com

सवालों से मुठभेड़

आधी आबादी

सुशीला पुरी

स्त्री के अस्तित्व को पुरुषों के खिलाफ रख कर सोचा ही नहीं जा सकता। आदर्श समाज की कल्पना जो मेरे मन में उभरती है, उसमें स्त्री और पुरुष के बीच ऐसा संबंध आपसी सहयोग, समझ, संवेदना और एक दूसरे के प्रति सम्मान की नींव पर आधारित है। आज जब विश्व महिला शताब्दी दिवस मनाया जा चुका हो...और हर साल मार्च में गोष्ठियां, समारोह, सम्मान वगैरह-वगैरह जैसी खानापूर्ति की जाती रही हो, भारतीय संसद में आरक्षण के नाम पर तैंतीस फीसद की जगह मिलने की उम्मीद न हो, तो ऐसे डरावने समय में स्त्री-प्रश्नों से जूझना...अंधेरे में दीपक टटोलने जैसा है!

सृष्टि के निर्माण के वक्त जरूर स्त्री-पुरुष दोनों की सामूहिक जरूरत और अहमियत रही होगी, लेकिन उसके बाद जैविक संरचना में फर्क के चलते धीरे-धीरे समाज में जो व्यवस्था पनपी, वह लगातार असमान होती चली गई। शारीरिक रूप से पुरुष को स्त्री से ज्यादा बल मिला और इसी बल का प्रयोग सामाजिक असमानता से होते हुए स्त्री को गुलामी की दहलीज तक ले आया। पितृसत्ता की अवधारणा भी इसी शरीर-बल के मूल से उपजी, जो बाद में तानाशाही की कगार तक चली गई।

स्त्री-मुक्ति से जुड़े प्रश्नों से भारतीय जनमानस ही नहीं जूझ रहा, कमोबेश पूरी दुनिया के सामने ये सवाल खड़े हैं। यों तो देश के सर्वोच्च पद (राष्ट्रपति) पर स्त्री आसीन है। कई प्रदेशों की मुख्यमंत्री भी महिलाएं ही हैं। लोकसभा अध्यक्ष से लेकर कई महत्त्वपूर्ण विभागों में भी महिलाएं आज अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है। ग्रामीण पंचायती व्यवस्था में उसे बराबर की भागीदारी का मौका भी मिल रहा है, लेकिन इन सारे 'खूबसूरत सपनों' के बावजूद आम भारतीय स्त्री आज भी अपनी

अस्मिता के मूल सवालों से मुठभेड़ कर रही है। भारत की ज्यादा आबादी गांवों में है, और गांव की स्त्री तो यह भी नहीं जानती कि 'स्त्री-अस्मिता' है कौन सी बला। किसी ग्रामसभा की प्रधान सीट अगर महिला के लिए आरक्षित होती है और जीत कर वह गांव की प्रधान बनती भी तो निन्यानवे फीसद महिलाओं का काम उनके पति, ससुर या जेठ संचालित करते हैं। वह सिर्फ घूंघट की ओट से दस्तखत करती है।

बलात्कार, कन्या-भ्रूण हत्या शहरों की अपेक्षा गांवों में ज्यादा और शातिर ढंग से होते हैं। गांवों में स्त्री-श्रम का बेइंतहा दोहन होता है...घर से लेकर बाहर खेतों तक स्त्री टूट कर मेहनत करती है लेकिन इतना करने के बाद भी उसके जीवन में एक तरह का अंधेरा ही फैला दिखाई देता है। एक गांव की ताजा घटना का जिक्र करना चाहती हूं जो अभी दो महीने पहले घटी। पांच बच्चों का बाप, जिसकी पत्नी सुंदर और मेहनती है, उसने उसी गांव की ही एक अर्द्धविक्षिप्त पंद्रह साल की लड़की से बलात्कार किया, फिर उसे कई महीनों तक बहला फुसला कर शोषण करता रहा। पांच महीने बाद जब उस लड़की के गर्भवती होने की बात सबको पता चली और पंचायत में उस लड़की ने उसका नाम लिया, तो उसी रात वह आदमी गांव छोड़ कर भाग गया। अब उसकी पत्नी और बच्चे दाने दाने को तरस रहे हैं। नन्हें से दुधमुहे बच्चे को पीठ पर लादे वह औरत मजदूरी-मेहनत करके किसी तरह जीवन गुजार रही है और अपने बच्चों को पाल रही है। उधर, उस लड़की के मां-बाप जबरन उसका गभर्पात कराकर, उसे उसकी उम्र से दोगुने बड़े एक पोलियोग्रस्त आदमी से ब्याहने की तैयारी कर रहे हैं।

स्त्री-मुक्ति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है देह-मुक्ति, लेकिन देह-मुक्ति के साथ सामाजिक संरचना में समाजशात्रीय व मानवीय नैतिकता की हदें भी शामिल हैं और उसकी अनदेखी न स्त्री कर सकती है न पुरुष। प्रेम और देह-विमर्श दो अलग-अलग विषय हैं और इसका फर्क औरत और मर्द दोनों को समझना चाहिए।

प्रेम के नाम पर ठगी जा रही स्त्रियों को भोगवाद की गहराई से पड़ताल करनी चाहिए। प्रेम की अवधारणा सिर्फ उसके होने में है...प्रेम का होना यानि अपने होने का मुकम्मल अहसास..! सफल या असफल होने से प्रेम का कोई ताल्लुक नहीं... न ही स्थान की दूरियों से कोई फर्क पड़ता है। उसका होना ही एक पवित्र, अद्भुत, असीम अनुभूति है...! वासना के नाम पर स्वच्छंद-भोगवाद को देह-मुक्ति या प्रेम से नहीं जोड़ा जा सकता। स्त्री अपनी देह की मालिक है और उस पर उस का हक तब रहेगा, जब वह प्रेम और [illegible] में फर्क करना जान पाएगी। प्रेम [illegible] एकांतिक और विकल धुन है...जिसे सिर्फ आत्मा की देह ही टेर सकती है, कोई भी भौतिक देह उसका एक तार भी झंकृत नहीं कर सकती...प्रेम की संपूर्णता सिर्फ प्रेमी (स्त्री हो या पुरुष) के होने में है!

पुरुष से बराबरी का प्रश्न पितृसत्ता व्यवस्था की वजह से पैदा हुआ, चूंकि परिवार का निर्माण जब स्त्री-पुरुष दोनों के सहयोग के बिना नहीं हो सकता तो फिर असमानता से उपजे सवालों से सामना करना ही होगा। पुरुष को यह सोचना होगा कि स्त्री एक मां, बहन, पत्नी, प्रेमिका, बेटी भी है और अगर इन रिश्तों के साथ उसे समाज में रहना है तो बराबरी की अवधारणा प्रेम और सम्मान की बुनियाद पर बनानी होगी, न कि मैदाने-जंग में जाकर।

आत्मनिर्भरता का प्रश्न भी अहम है लेकिन मैंने अनगिनत ऐसी स्त्रियों को भी देखा है, जो कमाती भी हैं और पिटती भी हैं। तो जब तक पुरुष की सामंती मानसिकता नहीं बदलती सिर्फ स्त्री के आत्मनिर्भर होने मात्र से कुछ नहीं हो सकता। गांव की स्त्री भले पैसे नहीं कमाती पर वह पुरुष से अधिक श्रम करती है। धर्म के नाम पर भी स्त्री सदियों से छली जाती रही है। सारे व्रत-उपवासों का जिम्मा स्त्री को सौंप कर सामंती व्यवस्था ने यह साजिश रची कि वह जितनी ही भूखी रहेगी, उतनी ही कमजोर और उतनी ही गुलाम भी होगी। कथित 'भव्य' 'महान' धर्मग्रंथों ने स्त्री को भावनात्मक विवशता में इतना जकड़ दिया है कि कई घरों में आज भी औरतें बिना पूजा-पाठ, दिया-बाती किए पानी तक नहीं पीतीं, चाहे सुबह से शाम हो जाए। स्त्री-मुक्ति के सवाल, स्त्री-अस्मिता के प्रश्न जब तक पुरुषों को नहीं झकझोरते, तब तक स्त्री-मुक्ति मात्र सपना ही है, अपवादों को छोड़ कर ....कला, साहित्य के विभिन्न माध्यमों से इन प्रश्नों को लगातार जूझना होगा इस भयावह समय को

कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न की शून्य सहनशीलता

राष्ट्रीय माहिला आयोग द्वारा

आचार संहिता

श्रीमती ममता शर्मा
अध्यक्ष, राष्ट्रीय महिला आयोग

यौन उत्पीड़न क्या है?

विशाखा एवं अन्य बनाम राजस्थान राज्य एवं अन्य में सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिए गए दिशा निर्देशों के अनुसार यौन उत्पीड़न में सम्मिलित है नापसन्द आने वाले निश्चित यौन व्यवहार (चाहे परोक्ष रुप से हो अथवा कार्यरत में) जैसे कि :–

क) शारीरिक स्पर्श तथा काम वासना को जागृत करने वाली चेष्टाएं;
ख) यौन –स्वीकृति की माँग अथवा प्रार्थना;
ग) काम वासना से प्रेरित टीका टिप्पणी;
घ) किसी कामोत्तेजक कार्य–व्यवहार/सामग्री का प्रदर्शन;
ङ) महिला की इच्छा के विरुद्ध यौन संबंधी कोई भी अन्य शारीरिक, मौखिक या अमौखिक आचरण।

विशाखा दिशा निर्देशों का कार्यक्षेत्र और अनुप्रयोग

- सभी सरकारी, निजी क्षेत्र और असंगठित क्षेत्र।
- हर महिला जो नियमित रुप से वेतन ले रही है, अल्पद्रव्य (ओनरेरियम) प्राप्त करती है या स्वैच्छिक क्षमता में काम करती है।

कार्यस्थल में सम्मिलित है :–

- कोई विभाग, संगठन, उपक्रम, स्थापना, उद्यम, संस्था, कार्यालय, शाखा या इकाई जिसकी स्थापना, स्वामित्व, नियंत्रण, पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से, समुचित सरकार या स्थानीय अथॉरिटी या सरकारी कंपनी या निगम या सहकारी समिति द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रुप से प्रदन्त धन द्वारा होता है।
- कोई निजी क्षेत्र का संगठन या निजी उद्यम, उपक्रम, एन्टरप्राइजेज संस्था, स्थापना, समिति, ट्रस्ट, गैर सरकारी संगठन, इकाई या सेवा प्रदाता, जो वाणिज्यिक, व्यावसायिक, वोकेशनल, शैक्षणिक, मनोरंजक, औद्योगिक या वित्तिय गतिविधियां कर रहें हैं जिसमें उत्पादन, आपूर्ति, बिक्री, वितरण या सेवा सम्मिलित है।
- घर या निवास – स्थान, कोई भी जगह, वाहन (चाहे हवा, भूमि, रेल या समुद्र) जहां पर कर्मचारी अपनी नौकरी के सम्बंध में जाए।

कार्यरत महिलाओं के अधिकार :–

- सुरक्षित और सकुशल वातावरण में आत्म–सम्मान के साथ कार्य करना।
- **यौन उत्पीड़न का निवारण।**
- शिकायत समिति से सुनवाई एवं राहत।
- स्वयं का या अपराधकर्ता का स्थानान्तरण करने की मांग करना।

नियोजक की जिम्मेदारी

- **निवारण प्राथमिकता** और यौन उत्पीड़न के कृत्यों को रोकना।
- संगठन के नियम और विनियम संशोधन किये जाएं ताकि यौन उत्पीड़न को दुर्व्यवहार माना जाए और करने वाले को दण्ड प्रदान किया जाए।
- विशाखा दिशा निर्देशों के सख्त और अनिवार्य कार्यान्वयन।
- विशाखा दिशा निर्देशों के आधार पर कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न की शून्य सहनशीलता प्रदर्शित करने के लिए नीति तैयार की जानी चाहिये।
- कार्यस्थल पर विशाखा दिशा निर्देशों की अधिसूचना प्रमुख स्थानों पर प्रदर्शित।
- समय समय पर यौन उत्पीड़न की रोकथाम पर कर्मचारी बैठकों और नियोक्त–कर्मचारी बैठकों का आयोजन होना चाहिये।
- यौन उत्पीड़न के मामलों के सामाधान, निपटान और अभियोजन की प्रक्रिया स्पष्ट होनी चाहिये।
- शिकायत समिति के सदस्यों के नाम और जानकारी को सार्वजनिक रूप से संगठन की वेबसाइट और परिसर में प्रदर्शित किया जाए।
- नियोक्ता बाहरी/तृतीय पक्षों से यौन उत्पीड़न का संज्ञान लेगी।

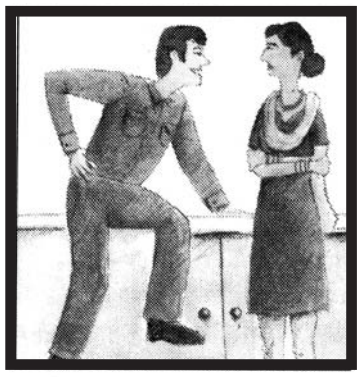

शिकायत निवारण तंत्र

- सभी कार्यस्थलों में यौन उत्पीड़न की रोकथाम और निवारण के लिए एक शिकायत समिति की स्थापना हो।
- शिकायत समिति में अध्यक्ष के रूप में महिला का होना अनिवार्य है, न्यूनतम पचास प्रतिशत महिलाएँ, गैर सरकारी संगठन या बाह्य विशेषज्ञ जो यौन उत्पीड़न के विषय से परिचित हो।
- मेधा कोतवाल 2004 में सुप्रीम कोर्ट के अंतरिम आदेश के अनुसार शिकायत समिति जाँच अधिकारी का कार्य करेगी।
- **शिकायतें समिति के सदस्यों को सुगम, मिलनसार, प्रतिबद्ध, संवेदनशील और समझदार होना चाहिए।**
- शिकायत प्रक्रिया समय सीमा के अन्दर और गोपनीय होनी चाहिए।
- शिकायतकर्ताओं या गवाहों को शिकायत करते समय उन्हें शिकार नहीं बनाया जायेगा।
- शिकायत समिति गतिविधियों की वार्षिक रिर्पोट देगी।

यौन उत्पीड़न के बारे में प्रचलित मिथ्या धारणाएं

मिथ्या महिलाओं को छेड़खानी और यौन उत्पीड़न में आन्नद आता है।

सत्य महिलाएं यौन उत्पीड़न को अपमानजनक, दर्दनाक और डरावना अनुभव मानती हैं।

मिथ्या यौन उत्पीड़न सुरक्षित इश्कबाजी है। महिलाओं को इसे हास्य के रूप में लेना चाहिए।

सत्य कोई भी आचरण/व्यवहार जो महिला को कष्ट दे उसे सुरक्षित व हास्यपद नहीं कहा जा सकता ।

मिथयायौन उत्पीड़न प्राकृतिक पुरूष व्यवहार है।

सत्य महिलाओं का यौन उत्पीड़न कैसे किया जाए यह पुरूष जन्म से नहीं जानता। यह एक सीखा हुआ व्यवहार है।

मिथ्या महिलाएं यौन उत्पीड़न को अपने पहनावे से उकसाती हैं। अच्छी शालीन महिलाएं कभी भी यौन उत्पीड़न का सामना नहीं करती।

सत्य अपने दुर्व्यवहार का भार सतायी हुई महिला पर डालने का यह एक शातिर तरीका है। महिलाओं को बिना किसी डर से अपनी पसंद का पहनने एवं स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार है।

मिथ्या यदि महिलाओं के कार्य स्थल पर ज्यादातर पुरूष काम करते है तो उस स्थिति में यौन उत्पीड़न का होना कोई विशेष बात नहीं है।

सत्य यौन उत्पीड़न दुराचार और कानूनी अपराध है महिलाओं को भी पुरूषों की तरह, आत्म सम्मान के साथ काम करने का समान अधिकार है।

घरेलू कर्मचारियों को भी संरक्षण की पहल

अलका आर्य
लेखिका स्वतंत्र पत्रकार है।

राष्ट्रीय महिला आयोग घरेलू कर्मचारियों को इसके दायरे में लाने के पक्ष में था। समिति के समक्ष पेश हुए सभी पक्षों की भी राय यही थी। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद जिसकी अध्यक्ष सोनिया गांधी हैं, ने भी घरेलू कर्मचारियों को इस विधेयक के दायरे में लाने की वकालत की थी।

हाल में कैबिनेट ने कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न से महिलाओं को बचाने के लिए महिला संरक्षण विधेयक के जिस मसौदे को मंजूरी दी है, उसमें घरेलू नौकरानियों को भी संरक्षण के दायरे में लाने का प्रावधान शामिल कर सरकार ने अंततः अपनी गलती सुधार ली है। गौरतलब है कि 'कार्यस्थल पर महिला यौन उत्पीड़न संरक्षण विधेयक-2010' के मूल मसौदे के अनुसार कार्यस्थल पर महिला के साथ शारीरिक संपर्क, इसकी कोशिश या छेड़छाड़, अशिष्ट टिप्पणी, अश्लील साहित्य दिखाना, यौनाचार की कोई ऐसी कोशिश जिस पर महिला को आपत्ति हो यौन प्रताड़ना माना जाएगा।

इस प्रस्तावित विधेयक के तहत कार्यस्थल पर महिलाओं के खिलाफ कामकाज के प्रतिकूल माहौल तथा महिला के रोजगार के भविष्य को लेकर धमकी या प्रलोभन को भी यौन उत्पीड़न माना जाएगा। ध्यान देने वाली बात यह है कि महिलाओं के साथ कार्यस्थलों पर होने वाली यौन हिंसा को एक अपराध के रूप में पहचान सबसे पहले 1997 में विशाखा बनाम राजस्थान सरकार केस में मिली। इस मामले की सुनवाई के दौरान ऐसी हिंसा एक मुददे के रूप में सामने आई और महिला संगठनों व कानून के गलियारों में इस मुददे पर गंभीर चर्चा हुई। सर्वोच्च अदालत ने कार्यस्थल पर महिलाओं के खिलाफ होने वाली यौन हिंसा संबंधी दिशा-निर्देश जारी किए और स्पष्ट किया कि जब तक देश में इस बाबत कानून नहीं बनता तब तक ये दिशा-निर्देश प्रभावी रहेंगे।

मगर जब इतने कड़े संघर्ष के बाद विधेयक का मसौदा तैयार किया तो सरकार ने इसके दायरे में घरेलू कर्मचारियों को शामिल ही नहीं किया। इसके पीछे महिला एवं बाल विकास मंत्रालय ने स्पष्ट किया था कि घरेलू कर्मचारियों को जानबूझकर इस प्रस्तावित कानून के दायरे से बाहर रखा गया है क्योंकि घर के भीतर कानून को लागू करने में व्यावहारिक दिक्कतें हैं, खासकर जब घरों के भीतर कोई भी आचार संहिता निर्धारित नहीं की जा सकती। इसके अलावा अभी तक घरेलू कर्मचारियों के लिए ऐसी कोई नीति नहीं है जिसमें उनकी सेवा के निबंधन और शर्तें तथा कार्यस्थल पर सुरक्षा की बात निर्धारित की गई हो। घरेलू कार्य अधिक विनियमित क्षेत्र नहीं है और चिंता की बात यह है कि इस कानून का सहारा लेने वाले घरेलू कर्मचारियों के पीड़ित होने की आशंका बनी रहेगी। लेकिन समिति मंत्रालय की इस दलील से असहमत नजर आई कि घर के भीतर कोई आचार संहिता न होने की स्थिति में इसे लागू करने में व्यावहारिक दिक्कतें होंगी।

संसदीय समिति की राय में घर की चारदीवारी के भीतर घरेलू कर्मचारियों के यौन उत्पीड़न के मामलों की सुनवाई करने के तरीके खोजे जा सकते हैं। साथ ही, घरेलू हिंसा से महिलाओं की सुरक्षा अधिनियम,2005 के कार्यान्वयन से हासिल अनुभवों को भी यौन उत्पीड़न के मामलों में इस्तेमाल किया जा सकता है। कई अध्ययन बताते हैं कि ऐसी महिलाएं यौन उत्पीड़न के निशाने पर अधिक हैं। ये दफ्तरों, कारखानों में काम करने वाली महिलाओं की तुलना में बहुत ही कम पढ़ी-लिखी होती हैं, इनके आत्मविश्वास का स्तर भी बहुत कम होता है। आज जब कार्यस्थल की परिभाषा बदल चुकी है, बड़ी बड़ी कंपनियां भी घर से कार्य करने की इजाजत दे रही हैं तो ऐसे में यह दलील देना कि घरों में कर्मचारियों को संरक्षण देने वाले कानूनों को लागू करना अव्यावहारिक दिखता है, दरअसल यह अपनी जवाबदेही से भागना ही था।

प्रस्तावित विधेयक में इस तथ्य को भी नजरअंदाज किया गया कि भारत सरकार ने आई.एल.ओ कंवेशन 189 के पक्ष में मत दिया है। और इसने घर को एक कार्यस्थल के रूप में मान्यता दी है। राष्ट्रीय महिला आयोग घरेलू कर्मचारियों को इसके दायरे में लाने के पक्ष में था। समिति के समक्ष पेश हुए सभी पक्षों की भी राय यही थी। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद जिसकी अध्यक्ष सोनिया गांधी हैं, ने भी घरेलू कर्मचारियों को इस विधेयक के दायरे में लाने की वकालत की थी। इस मुददे को लेकर महिला संगठनों, घरेलू कर्मचारी संघों ने सरकार पर बराबर घरेलू कर्मचारियों को इस विधेयक में शामिल करने के लिए दबाव बनाया। यह दबाव रंग लाया। संसदीय समिति के इस महत्वपूर्ण सुझाव को सरकार ने प्रस्तावित विधेयक के मसौदे में शामिल किया, जिस पर कैबिनेट ने अपनी मुहर लगा दी है। उम्मीद है कि लाखों घरेलू कर्मचारियों को उनका कानूनी हक मिल सकेगा।

alkaarya2001@gmail.com

रेलवे में उपेक्षित और असुरक्षित महिलाएं

अंजलि सिन्हा

पिछले माह रेल मंत्रालय काफी में चर्चा रहा। दिनेश त्रिवेदी से यह मंत्रालय लेकर तृणमूल के ही मुकुल राय को थमाया गया है। यात्री भाड़े में वृद्धि को लेकर नाखुश ममता बनर्जी ने यह बदलाव कराया है। निश्चित तौर पर दीदी से जनता खुश हुई होगी कि उन्होंने उनका खयाल किया। चूंकि महिलाएं भी अच्छी-खासी संख्या में सफर करती हैं लिहाजा उन्हें भी किराए में कमी का निश्चित लाभ मिलेगा। लेकिन ट्रेनों में महिलाओं के खिलाफ बढ़ते अपराध पर न तो दीदी का ध्यान गया, न दिनेश त्रिवेदी ने इस पर कोई विशेष पहल की और न मुकुल राय ने अब तक इस मामले में किसी खास बंदोबस्त का वायदा किया है।

रेल यात्रा के दौरान सुरक्षा के प्रश्न पर चलते-चलाते तो सभी मंत्री तथा अधिकारी गण दो-चार आश्वासन के वाक्य बोल जाते हैं और जिम्मेदारी जीआरपी को सौंप जाते हैं। लेकिन मामला सिर्फ सुरक्षा गश्त बढ़ाने का नहीं है बल्कि ठोस उपाय करने का है। समूची रेल व्यवस्था में लैंगिक असंवेदनशीलता का मसला गम्भीर है। चाहे वह महिला कर्मचारियों की संख्या बढ़ाने का सवाल हो, बोर्ड के गठन में उनके प्रतिनिधित्व का विषय हो या फिर बुनियादी सुविधाएं- शौचालयों तथा चेंजिंग रूम आदि की व्यवस्था का प्रश्न हो, कहीं भी आसानी से वह रवैया देखा जा सकता है जो स्त्री विरोधी है। असुरक्षा से बचाव के कारगर उपाय करना रेलवे के एजेंडे में कहीं है भी, लगता नहीं।

ज्ञात हो कि हाल में खुद रेल विभाग के आंकड़े बताते है कि अपराध बढ़ रहे हैं। बीते साल 2011 में रेल परिसर में बलात्कार, हत्या, डकैती एवं छेड़छाड़ के 712 मामले दर्ज हुए। वर्ष 2010 में यह आंकडा 501 था। 2011 में बलात्कार के 15 तथा छेड़खानी के 362 मामले दर्ज हुए जो 2010 में क्रमशः 10 और 252 थे। सुरक्षा के इंतजाम का जिम्मा आरपीएफ तथा जीआरपी पर है। मंत्रालय के अधिकारियों का जोर महज वीआईपी ट्रेनों जैसे राजधानी, शताब्दी, दुरंतो या एसी कोचों में गश्त बढ़ाने पर होता है। सुरक्षा इंतजामों का बड़ा हिस्सा इन ट्रेनों पर लगाया जाता है जबकि अन्य द्वितीय श्रेणी वाले कोचों में गश्त वाले भी कभी-कभार ही दिखते हैं। रेल विभाग ने मीडिया के माध्यम से बताया है कि वह एकीकृत सुरक्षा प्रणाली के तहत 202 सीसी टीवी स्टेशनों पर लगवा रहे हैं जबकि स्टेशन की तादाद लगभग 8 हजार है।

यह समझना मुश्किल नहीं है कि दर्ज मामलों के जो आंकड़े हैं उनकी तुलना में वास्तविक घटनाएं अधिक होती हैं। इसकी वजह यह है कि यात्रियों के लिए सफर के दौरान शिकायतों की प्रक्रिया को अंजाम देना कई बार संभव नही होता है। कोच के अंदर न तो कर्मचारी दिखते हैं, न ही कोई हेल्पलाइन नंबर होता है। अगर स्टेशन पर नीचे उतर कर शिकायत करने जाएं तब तक ट्रेन छूटने का डर होता है। जो अन्य उपाय हो सकते हैं उनके बारे में यात्रियों को जानकारी भी नहीं होती है। कोई प्रचार भी इस बारे में रेलवे करता नहीं दिखता है। जैसा कि दिल्ली में डीटीसी बसों के लिए निर्देश

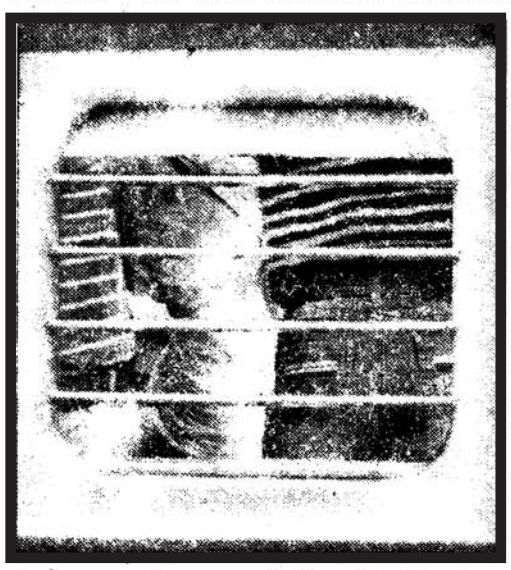

है कि हर बस में स्पष्ट रूप में और कई जगहों पर हेल्प लाइन नंबर लिखा होना चाहिए जिसे छेड़खानी का सामना करने वाली लडकियां-महिलाए इस्तेमाल कर सकती हैं। लगता है कि महिलाओं को सुरक्षित सफर का भरोसा दिलाना अभी रेलवे की प्राथमिकता नहीं बना है। न सिर्फ ट्रेन के अंदर बल्कि स्टेशनों पर भी वातावरण असुरक्षा का ही है। महानगरों के स्टेशनों पर भीड़ के कारण फिर भी किसी बड़ी अनहोनी का भय नहीं लगता, लेकिन खासतौर पर उत्तर भारत के कई छोटे स्टेशनों पर सुरक्षा के कोई उपाय नहीं दिखते हैं। खासकर रात के वक्त किसी ट्रेन पर अकेले चढ़ना या उतरना महिलाओं के लिए असुरक्षित होता है।

रेल परिसर में और यात्रा दौरान तो महिलाओं को अपराध और असुरक्षा का सामना करना ही पड़ता है, विभागीय स्तर पर भी उनके साथ भेदभाव आम है। मसलन, रेलवे ने अपनी भर्ती नीति अभी तक दुरुस्त नहीं की है। संसद की स्थायी समिति की तरफ से उसकी भर्ती नीति पर गंभीर सवाल उठाये गए थे। यहां विभिन्न विभागों में न्यूनतम 5.45 से अधिकतम 7.70 फीसद महिला कर्मचारी थी। रिपोर्ट में बताया गया था कि ग्रुप ए, बी, सी और डी श्रेणी में क्रमशः 6.79, 5.45, 7.70 और 6.20 फीसद महिला कर्मचारी हैं। खेल कोटे के तहत होनेवाली भर्तियों को भी रेलवे ने अनदेखा कर रखा है। यहां हर साल 1181 रिक्तियां खेल कोटे के तहत भरी जानी चाहिए, लेकिन 2008 में मात्र 586, 2009 में 509 और 2010 में 233 सीटें ही भरी गईं। बचाव में जैसा कि हमेशा यही कहा जाता है कि योग्य उम्मीदवार मिले ही नहीं। संसदीय समिति ने इस बात को सिरे से खारिज कर दिया कि देश में उम्मीदवार नहीं हैं। इतना ही नहीं रेलवे पुलिस फोर्स में भी आठ हजार पद खाली हैं। स्थायी समिति की तरफ से रेल मंत्रालय को सलाह दी गयी है कि वह अपने यहां महिला कर्मचारियों की संख्या बढ़ाने के लिए पर्याप्त कदम उठाए।

वैसे हमारे देश में किसी भी क्षेत्र की नौकरियों में खाली स्थानों का नहीं भरा जाना और सालों साल रिक्त पड़े पद एक गम्भीर मुद्दा है। चाहे आप डाक विभाग देखें, टेलीफोन निगम, नगर निगम या अन्य कोई भी दफ्तर लें। लेकिन यह तय है कि जितनी भी नई नियुक्तियां होती हैं उनमें महिलाओं की भागीदारी के अनुपात में भारी असमानता मौजूद है। यह गम्भीर चिंता का विषय है क्योंकि इसके बिना महिला सशक्तिकरण तथा लैंगिक समानता का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता है। सभी क्षेत्रों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना इसलिए जरूरी है कि यह उनका अधिकार है। जरूरी है कि महिलाएं कामकाजी बनें और आर्थिक निर्भरता की स्थिति समाप्त हो। साथ ही यदि महिलाएं पर्याप्त संख्या में बाहर का कामकाज सम्भालेंगी तो सार्वजनिक दायरे का पूरा वातावरण भी बदलेगा।

किसी भी क्षेत्र में महिलाओं की इतनी कम उपस्थिति वातावरण को स्वतः ही पुरुष वर्चस्व वाला बना देती है और यह महिलाओं के लिए भय पैदा करने वाला होता है। असामाजिक तत्वों पर काबू पाना तथा रेल परिसर एवं यात्रा के दौरान सुरक्षित वातावरण निर्मित करना रेल विभाग की जिम्मेदारी है। ऐसा न करने पर उसके खिलाफ आवश्यक कार्रवाई भी होनी चाहिए।

विभाग में ही यौन उत्पीड़न का दंश

महिला पुलिसकर्मी

अंजलि सिन्हा

हाल में एक खबर पढ़ी कि जोधपुर में महिला प्रशिक्षु कांस्टेबलों को उन्हीं के विभाग के पुलिस अधिकारियों ने अपनी हवस का शिकार बना डाला। पुलिसकर्मी चेकिंग के बहाने हॉस्टल में घुसकर इन प्रशिक्षुओं को दूसरे हॉस्टल ले गए जहां घटना को अंजाम दिया गया। पीड़ितों ने थाने में लिखित शिकायत दर्ज करायी है। शिकायत पत्र में लिखा है कि इन लोगों के खिलाफ पहले भी यौन शोषण की शिकायत दर्ज हुई थी, लेकिन क्योंकि कोई कार्रवाई नहीं हुई लिहाजा उन्होंने बेखौफ होकर फिर यह दुस्साहस किया। यह भी गौरतलब है कि पुलिस विभाग में महिला पुलिस अधिकारी उपलब्ध होने के बावजूद ऐसे पुरुष अधिकारियों को हॉस्टल इंचार्ज बनाया गया। जोधपुर के डीजीपी ने घटना की जांच के आदेश दिए हैं।

ऐसी खबरें देश के अलग-अलग हिस्सों से गाहे-बगाहे आती रहती हैं कि कैसे पुलिसकर्मी मौका पाकर अपराधी मर्द की भूमिका में आ जाते हैं। कुछ साल पहले दिल्ली में रात्रि ड्यूटी पर तैनात एक कांस्टेबल ने एक राहगीर लड़की के साथ यौन हिंसा की। अपने मातहत ट्रेनिंग लेने वाली महिला पुलिस कर्मियों के साथ यौनिक हिंसा की भी कई घटनाएं हाल में उजागर हुई हैं। कुछ माह पहले कोल्हापुर, महाराष्ट्र के पुलिस ट्रेनिंग स्कूल में प्रशिक्षण के दौरान यौन उत्पीड़न की एक बड़ी घटना का पता चला। प्रशिक्षण काल में 11 प्रशिक्षु महिला कांस्टेबलों के गर्भवती हो जाने के बाद मामले की जांच के आदेश दिए गए तथा ट्रेनिंग इन्स्ट्रक्टर युवराज कांबले गिरफ्तार हुआ। बताया गया कि ट्रेनिंग के दौरान पुलिस के बड़े अधिकारी भी महिला प्रशिक्षुओं के यौन उत्पीड़न में शामिल रहे हैं। पिछले साल की ही बात है जब हरियाणा के करनाल के पुलिस प्रशिक्षण केन्द्र में महिला प्रशिक्षुओं के यौन अत्याचार की खबर आयी थी, मगर बाद में मामला रफा-दफा हो गया।

गौरतलब है कि जितनी महिलाओं का यौन उत्पीड़न हुआ होगा, उनमें सभी तो गर्भवती नही हुई होंगी यानी घटना की शिकार सिर्फ वही ग्यारह युवतियां नहीं रही होंगी, जिनके मेडिकल टेस्ट में गर्भवती होने की पुष्टि हुई। अन्य ने हो सकता है, इज्जत के खातिर या किसी तरह ट्रेनिंग पूरा कर हाथ में नौकरी आ जाए, इसलिए मुंह न खोला हो। बहरहाल, घटना की गंभीरता का अनुमान लग सकता है।

मीडिया में खबर बन जाने तथा ठोस सबूत के कारण जोधपुर या कोल्हापुर के मामले में कुछ कार्रवाई हो भी जाए लेकिन अहम मुददा यह है कि पुलिस विभाग का वातावरण कब बदलेगा जिसमें धौंस जमाना, दादागिरी तथा मर्दानगी दिखाना आम बात है। इस नौकरी में श्रेणीबद्धता इतनी अधिक दिखती है कि ऊंचे ओहदेवाले कर्मचारी या अधिकारी का हर जायज-नाजायज निर्देश कबूल करना

होता है वरना अनुशासनहीनता का मेमो लेटर मिल जाता है। थानों का वातावरण ऐसा बना दिया जाता है कि पीड़ित का हौसला पहले ही पस्त हो जाए। जेंडर भेदभाव तथा पुरुष प्रधानता को कई तरह से देखा जा सकता है। मसलन पुलिसवाले यौनिक गाली-गलौज व भाषा का प्रयोग धड़ल्ले से करते हैं।

कुछ साल पहले मुंबई में जेंडर आयोजित एक कार्यशाला में महिला पुलिसकर्मियों ने अपनी वरिष्ठ अधिकारियों के साथ अपने अनुभव साझा किये और बताया कि किस तरह थानों का पूरा वातावरण मर्दानगी भरा रहता है जिसकी वजह से उनके काम में बाधा आती है। कुछ महिला पुलिसकर्मियों ने यह भी बताया कि कुछ पुरुष तो उनके सामने ही यूनीफार्म बदलने लगते हैं, जिससे वे बेहद असहज महसूस करती हैं।

पुलिस महकमें में पुरुष प्रधान वातावरण का एक कारण यह भी है यहां महिलाकर्मियों की संख्या काफी कम है। सूचना-अधिकार के तहत मिली जानकारी के मुताबिक दिल्ली पुलिस की 71,631 की कुल संख्या में महिला पुलिस मात्र 5,069 यानी 7 प्रतिशत है। 37 टॉप पदों पर एक भी महिला नही है और 33 में से सिर्फ तीन महिला डीसीपी हैं। यानी हर स्तर के पदों में भारी अन्तर है। सिर्फ चतुर्थ श्रेणी में तुलनात्मक रूप से बेहतर स्थिति है। यानी वहां महिलाओं की उपस्थिति 18.66 प्रतिशत है। केंद्रीय गृह मंत्रालय पहले ही राज्य सरकारों को लिख चुका है कि महिला पुलिस कर्मियों की संख्या बढ़ायी जाये। कारण महिला एवम बच्चों के खिलाफ बढ़ती आपराधिक घटनाओं में महिलाओं की भागीदारी के कारण यह जरूरी है।

राष्ट्रीय पुलिस कमीशन ने भी नवम्बर 1980 में सिफारिश की थी कि हर पुलिस स्टेशन पर महिलाकर्मियों की संख्या 10 प्रतिशत होनी चाहिए। हाल में भारत सरकार की रिपोर्ट में चिंता व्यक्त की गयी कि हरियाणा में महिला पुलिस कर्मियों की संख्या कम हो रही है तथा विभाग में भर्ती के लिये प्रेरित करने के लिये कोई उपाय भी नहीं किया जा रहा है। यहां 41,683 पुलिसकर्मियों में 1,691 महिलाएं हैं। पुलिस विभाग में महिलाओं की नियुक्ति के पीछे एक मजबूरी यह होती है कि महिला अपराधियों की धरपकड़ में या उनसे पूछताछ के लिए कानूनन महिला पुलिस का साथ होना जरूरी होता है। इस लिहाज से हर थाने में कुछ महिला सिपाही जरूरी हैं। यानी महिलाओं को नियुक्तियों में बराबर का अवसर मिले, यह सोच कहीं नहीं दिखती। कुल मिला कर पुलिस विभाग में जेंडर गैरबराबरी तथा यौन हिंसा का मामला गंभीर है।

समाधान की बात करें तो महिला पुलिस अधिकारियों तथा महिला पुलिस कर्मियों की भरती तो अधिकाधिक होनी ही चाहिए क्योंकि एक तो इससे पुलिस महकमे के भीतर का पुरुष वर्चस्व टूटेगा, दूसरे महिलाओं का अधिकार है कि उन्हें हर क्षेत्र में बराबर का अवसर मिले। अंततः उपाय तो अपराधी को टारगेट कर, उसे सजा दिला कर तथा उसकी मानसिकता दूर करके ही निकलेगा। यूं भी ऐसी मानसिकता वाले जिस क्षेत्र में रहेंगे, अपने लिए शिकार तलाशते रहेंगे और कोई न कोई तो हाथ लग ही जाएगा।

शौचालय बनाम मोबाइल फोन

सवाल

अनिल चमड़िया

केंद्रीय ग्रामीण विकास मंत्री जयराम रमेश ने कहा कि गांवों में महिलाएं उनसे शौचालय की सुविधा मुहैया कराने के बजाए मोबाइल फोन की मांग करती हैं। इसके बहाने हमें भारत में सरकार द्वारा बहस के लिए किसी भी विषय को उठाने के तरीके पर बातचीत करनी चाहिए। भारत में 2011 की भवन गणना के बाद आंकड़ों के रूप में यह सच सामने आया है कि सौ में से सैतालीस घरों में ही शौचालय की सुविधा है। दस वर्ष पहले केवल 34 प्रतिशत घरों में शौचालय थे। यानी दस वर्षों में 13 प्रतिशत का ही सुधार हुआ है। दस वर्ष पहले का यह आंकड़ा इसीलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि आज की तारीख में शौचालय की समस्या को मोबाइल फोन के विस्तार के बरक्स प्रस्तुत किया जा रहा है। लगभग दस वर्ष पहले से ही भारत में आम घरों में मोबाइल फोन आने का सिलसिला तेज हुआ। वर्तमान में देश के 63 प्रतिशत घरों में फोन की सुविधा उपलब्ध है जिनमें 53 प्रतिशत घरों में केवल मोबाइल फोन है और 6 प्रतिशत के पास टेलीफोन और मोबाइल दोनों हैं। ग्रामीण इलाकों के आधे से ज्यादा घरों में मोबाइल फोन आ गया है।

आखिर दस वर्षों में मोबाइल फोन का इतनी तेजी के साथ विस्तार कैसे हो गया और शौचालय जैसी मूलभूत सुविधा का विस्तार अंग्रेजी हुकूमत के बाद आजाद भारत की सरकारों के कार्यकाल में अपेक्षित तेजी से क्यों नहीं हो सका। पहली बात कि क्या किसी भी समस्या को किसी दूसरी जरूरत की उपलब्धता के समानांतर खड़ा किया जा सकता है? सरकार से ही यह सवाल किया जाए कि शौचालय की समस्या का समाधान अंग्रेजों के बाद की अपनी कल्याणकारी सरकारें क्यों नहीं कर पाईं। क्या शौचालय सुविधा सरकारी कार्यक्रम है? शौचालय की जरूरत हर परिवार व उसके सदस्यों को है।

सरकार का लगातार जोर घरों में शौचालय के निर्माण को लेकर रहा है। सरकार ने घरों में शौचालयों के निर्माण के लिए कई कार्यक्रमों की घोषणा की है लेकिन सरकार द्वारा रियायत दिए जाने का कार्यक्रम बनाए जाने के बावजूद शौचालय के निर्माण के प्रति लोगों की गति में कोई तेजी दिखाई नहीं दी।

देश में एक कमरे के मकानों की संख्या गांवों में 39.4 प्रतिशत और शहरों में 32.1 प्रतिशत है। ग्रामीण विकास मंत्री जयराम रमेश जब शौचालय की सुविधा की मांग न किये जाने के लिए लोगों, खासतौर से महिलाओं को जिम्मेदार ठहराते हैं तो उनके विकास की सामाजिक प्रक्रिया के अध्ययन की जरूरत महसूस होती है।

ग्रामीण इलाकों में महिलाओं की अस्वस्थता के सबसे बड़े कारणों में एक कारण घरों में शौचालयों का नहीं होना भी है।

- ग्रामीण इलाकों में महिलाओं की बीमारी के बड़े कारणों में एक कारण घरों में शौचालयों का नहीं होना है। इसीलिए यह कहना कि गांवों में शौचालयों के बजाय मोबाइल फोन की मांग होती है, समाज का उपहास उड़ाने जैसा प्रयास कहा जाएगा
- सरकार अब तक सभी भारतीय घरों में शौचालयों के नहीं पहुंच पाने की स्थिति अगर देख रही है तो उसे इस दिशा में चल रहे अपने कार्यक्रमों पर अवश्य गौर करना चाहिए

यदि महिलाएं सुबह सूर्य उगने से पहले निवृत्त होने के लिए घरों से नहीं निकल सकीं तो उन्हें अक्सर शाम को झुटपुंटा होने तक उसी अवस्था में रहना पड़ता है। इसीलिए यह कहना कि गांवों में शौचालयों के बजाय मोबाइल की मांग होती है, समाज का उपहास उड़ाने जैसा प्रयास कहा जाएगा।

दरअसल, यह कोई नई बात नहीं है। यह भारतीय समाज में वर्चस्ववादी संस्कृति की सोच और समझ का परिचायक है। ठीक उसी तरह जैसे किसी गरीब को यह कहकर हिकारत भरी निगाहों से देखा जाता है कि वह रोटी के बदले शराब में पैसे खर्च करता है। पहली बात तो यह कि यह विचार का कौन-सा पक्ष है जो गरीब के लिए यह मानक तय करता है कि उसे पहले रोटी पर ही पैसे खर्च करने चाहिए। दूसरा, उसे गरीब के शराब पीने पर एतराज क्यों है? क्या यह मानवतावादी दृष्टिकोण है कि गरीब को पहले रोटी खानी चाहिए क्योंकि जिंदा रहने के लिए रोटी एक जरूरत है। इसके समानांतर एक सवाल यह है कि जो गरीब के लिए रोटी की जरूरत निर्धारित करना चाहता है,- क्या उसकी जरूरतों को निर्धारित करने का मन गरीब भी बना सकता है? किसी की जरूरत को निर्धारित करने का काम किसका है! क्या ताकत के साथ इसका रिश्ता जुड़ा हुआ है? इससे जुड़े दूसरे प्रश्नों पर भी विचार करें।

आखिर गरीब से यह अपेक्षा क्यों की जाती है कि वह अपने आसपास फैलाई गई अमीरी की संस्कृति और जीवनशैली को स्वीकार करने से परहेज रखे। आंमतौर पर हम यह देख सकते हैं कि समाज का वर्चस्ववादी तबका गरीब और जरूरतमंदों के लिए मुद्दे निर्धारित करता है और वह उन्हें स्वीकार नही करने वालों को हिकारत से देखता है। लेकिन अपनी विकसित की गई संस्कृति को स्वीकार करने से चिढ़ता भी है। यह दोहरी मार गरीब क्यों सहन करें? एक सामंती परिवार का लड़का अपने पूर्वजों की याद में रोजाना गांव और आसपास के लोगों को खिचड़ी खिलाना चाहता था लेकिन उसकी खिचड़ी खाने कोई नहीं आता था तो वह चिढ़ गया। उसने यह मानने से इनकार कर दिया कि समाज में भुखमरी जैसी स्थिति भी है। उसने यह विचार कतई नहीं किया कि कोई गरीब क्यों उसके पूर्वजों की आत्मा की शांति में हिस्सेदार बनें। गरीब जब इस तरह सोचने लगता है तो वह प्रतिक्रिया का शिकार होता है। महिलाएं मोबाइल फोन चाहती है, यदि इस मांग के पीछे महिलाओं की पृष्ठभूमि को ध्यान में नही रखा जाएगा तो उनकी इस मांग का केवल उपहास उड़ाकर ही काम चलाया जा सकता है।

समर्थ या शासक वर्ग का एक राजनीतिक विचार यानी नजरिया होता है। उस नजरिये से ही वह समाज, उसकी समस्या और अपने तमाम तरह के हित देखता है। अपने पूर्वजों की आत्मा की शांति के लिए गरीबों के भोजन न करने पर प्रतिक्रिया और जयराम रमेश की प्रतिक्रिया में कोई बुनियादी अंतर नहीं है तो इसका कारण यह है कि दोनों एक ही राजनीतिक नजरिये के दो पहलू हैं। समस्या का समाधान यह नहीं बताना है कि सरकार से शौचालय की जगह मोबाइल की मांग की जा रही है।

सरकार ने एक महिला को इसलिए पुरस्कार दिया क्योंकि उसने अपनी ससुराल में शौचालय की मांग की। सरकार ने अपनी फोटो उसके साथ खिंचवा ली और वह दस्तावेज का हिस्सा बन गया। सरकार का मकसद इतिहास के पन्नों की रंगीन छ्पाई करवाने का है तो इस इन प्रयासों से शौचालय की समस्या दस्तावेजों में ही हल हो सकती है। ससुराल उसका अपना घर है, वहां उसे मांग करने की जरूरत नही हो सकती है; खासकर तब जबकि वह इतनी ताकतवर है कि अपनी ससुराल में कोई सशर्त मांग खड़ी कर सके। आमतौर पर महिलाओं की यह स्थिति नही है। ऐसा होता तो वे सबसे पहले अपनी बीमारियों के सबसे बड़े कारण घरों में शौचालय के अभाव को दूर करतीं।

कहने का आशय यही है कि भारतीय 'गरीब घरों में शौचालयों के प्रति गरीबों का उपेक्षा का भाव एक नहीं, कई तरह की मजबूरियों की उपज हैं। सरकार अब तक सभी भारतीय घरों में शौचालयों के न पहुंच पाने की स्थिति अगर देख रही है तो उसे इस दिशा में चल रहे अपने कार्यक्रमों पर अवश्य गौर करना चाहिए।

नजर से ओझल एक बुनियादी जरूरत

प्रसंगवश

स्त्रियों के विशेषाधिकारों की बात होने लगी है लेकिन अभी तक उसके सामान्य अधिकारों का ही संघर्ष खत्म नहीं हुआ है। सार्वजनिक स्थलों में साफ-सुथरे शौचालयों पर स्त्री का बुनियादी हक तो बनता ही है। लेकिन स्त्री की इतनी मामूली- सी लेकिन अहम जरूरत को भी समाज और सरकारों ने हमेशा से नकारा है। बल्कि सच तो यह है कि इस तरफ किसी का ध्यान ही नहीं गया। आधी आबादी यानी पुरुषों के लिए सार्वजनिक जगहों पर शौचालयों का न होना किसी समस्या जैसा है ही नहीं। क्योंकि वे अपनी जरूरत के लिए शौचालयों के मोहताज नहीं! किसी भी गली-मोहल्ले, नुक्कड़, मैदान और सार्वजनिक जगह के साथ वे निसंकोच शौचालय जैसा व्यवहार करने को आजाद हैं!

देश के इतिहास में पहली बार सुप्रीम कोर्ट ने स्त्रियों की इस अव्यक्त समस्या पर नोटिस लिया। स्कूलों में लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग शौचालयों की व्यवस्था को शिक्षा के बुनियादी अधिकर से जोड़ा गया है,18 अक्तूबर 2011 को सुप्रीम कोर्ट ने स्कूलों में शौचालयों की व्यवस्था को लेकर बेहद अहम आदेश दिया। सभी राज्यों और केंद्रशासित प्रदशों को आदेश दिया गया कि वे सभी स्कूलों में अस्थाई शौचालयों की व्यवस्था 30नवंबर तक करें। सभी स्कूलों में लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग साफ-सुथरे शौचालयों की स्थाई व्यवस्था के लिए सुप्रीम कोर्ट ने 31दिसंबर की अंतिम तारीख दी, जिसे बाद में बढ़ाकर 31 मार्च कर दिया गया।

पूरे देश के लगभग आधे स्कूलों में आज भी साफ-सुथरे शौचालयों की कोई व्यवस्था नही है। सुप्रीम कोर्ट द्वारा दी गई दोनों समयसीमाएं खत्म हो चुकी हैं लेकिन अब तक सभी स्कूलों में लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग शौचालयों की व्यवस्था नहीं हो पाई है।

पूरे देश के लगभग आधे स्कूलों में आज भी साफ-सुथरे शौचालयों की कोई व्यवस्था नहीं है। सुप्रीम कोर्ट द्वारा दी गई दोनों समयसीमाएं खत्म हो चुकी हैं लेकिन अब तक सभी स्कूलों में लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग शौचालयों की व्यवस्था नहीं हो पाई है। लेकिन यह अपने आप में अहम है कि कम से कम लड़कियों के लिए स्कूलों में अलग से शौचालयों की जरूरत को समझा गया, रेखांकित किया गया। सार्वजनिक जगहों और अलग-अलग संस्थानों में महिला शौचालयों की जरूरत को समझा जाना एक स्त्री-संवेदी सूचक है।

ऐसा नहीं है कि सिर्फ भारत की स्त्रियों को ही सार्वजनिक स्थानों और संस्थानों में महिला शौचालयों की घोर कमी का सामना करना पड़ रहा है। पड़ोसी देश चीन में भी महिला शौचालयों की स्थिति बेहद खराब है। इसी से तंग आकर कॉलेज की छात्राओं के एक समूह ने 'आक्युपाई वॉल स्ट्रीट' की तर्ज पर 'आक्युपाइ मेन्स टायलेट' जैसे आंदोलन की शुरुआत की। सार्वजनिक महिला शौचालयों की कमी के विरोध में कालेज की छात्राओं के एक समूह ने पुरुष शौचालयों का उपयोग करते हुए सार्वजनिक महिला शौचालयों को बढ़ाने की मांग की है। लिंग समानता की तरफ पहल के तौर पर वहां इस अधिकार की मांग की जा रही है। 1996 में ताइवान में भी इस तरह की घटनाएं सामने आई थीं।

स्कूल, कॉलेज, दफ्तर और अन्य सार्वजनिक स्थलों पर महिला शौचालयों का न होना सिर्फ महिला शौचालयों की कमी का मसला भर नहीं है। शौचालयों के घोर अभाव की वजह से जो शारीरिक परेशानियां लड़कियों और महिलाओं को होती हैं, वे चिंता का विषय हैं। ज्यादा देर तक दबाव को रोकने की वजह से महिलाओं और लड़कियों के शरीर में कई खतरनाक बीमारियों के पैदा होने की आशंका रहती है। गुर्दे में रक्त प्रवाह की कमी, गुर्दे में संक्रमण या खराबी या किडनी फेल या मूत्रनली में रुकावट जैसी तमाम व्याधियां घेर लेती हैं। यह महज संयोग ही नहीं कि लड़कियों में मूत्रसंबंधी संक्रमण का खतरा लड़कों की अपेक्षा ज्यादा होता है। एक शोध में सामने आया है कि सोलह की उम्र से पहले ग्यारह फीसद लड़कियों और चार फीसद लड़कों में मूत्रनलिका संबंधी संक्रमण होता है।

दिन के कई घंटे मूत्र रोककर कक्षा में बैठे रहने की मजबूरी भी बच्चियों को स्कूल के प्रति हतोत्साहित करती है। मासिक चक्र के समय स्कूलों में शौचालयों की कमी कितनी खलती होगी कोई इन लड़कियों से पूछे। शौचालयों की सामान्य सी सुविधा की कमी की वजह से स्त्रियों को सार्वजनिक जीवन में कितनी बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ता है। ये परेशानी तब और भी गंभीर हो जाती है जब शरीर में शौच रोकने संबंधी बीमारियां पैदा हो जाती हैं। सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों की भागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिए जिस बुनियादी ढांचे को खड़ा करने की जरूरत है उसमें सार्वजनिक महिला शौचालय निर्माण एक अहम घटक है।

केरल की एक एंजंसी ने शहर के मुख्य स्थानों और पर्यटन स्थलों पर विशेषतौर पर से महिलाओं के लिए शौचालय बनाने की परियोजना शुरू की है। देश में पहली बार इस तरह की अनूठी पहल हो रही है। राज्य महिला विकास निगम द्वारा इस योजना के पहले चरण में 35 शी-टायलेट बनाए जाएंगे। इनमें महिलाओं के लिए सैनिटरी नैपकिन वेंडिंग और इस्तेमाल किए जा चुके नैपकिन को जलाने वाली मशीनें भी लगाई जाएंगी। केरल के एरनाकुलम में लड़कियों के एक स्कूल में देश का पहला इलेक्ट्रानिक शौचालय बनाया गया है।

न सिर्फ सार्वजनिक महिला शौचालयों की कमी एक समस्या है बल्कि आज भी सिर्फ 46.9 फीसद घरों में ही शौचालय की सुविधा है। नई जनगणना में समाने आया है कि घरेलू शौचालय की बजाय सचल शौचालय रखने वाले घरों की संख्या ज्यादा है। शहरों की भीड़-भाड़ और समाज का स्त्रियों के प्रति नजरिया- ये चीजें स्त्रियों की शौचालय संबंधी समस्या को कितना ज्यादा विकट और पेचीदा बना देती हैं। कितने अचरज की बात है कि स्त्री के दिल, दिमाग, शरीर और एकांत पर भी पहरे बिठाने वाला समाज उसके नितांत निजी जरूरतों के प्रति कितना उदासीन और घोर असंवेदनशील है। स्त्री की बुनियादी जरूरतों से लेकर मानसिक, शारीरिक भावनात्मक तमाम तरह की जरूरतें पुरुषों और पितृसत्तात्मक समाज ने अपने हिसाब से तय की हैं। ज्यादातर पुरुषों को लगता है कि स्त्री के पास सोने के गहने होना जरूरी है, इसलिए उसके पास वे होते हैं, किसी भी कीमत पर! हालांकि, उन्हें नहीं लगता कि स्त्री के लिए गहनों और अन्य ताम-झाम से ज्यादा जरूरी घर और बाहर में शौचालय की व्यवस्था है, इसलिए वे नहीं हैं! बेटियों के विवाह के वक्त पक्केतौर पर सोने के गहने चिंता का विषय होते हैं, ससुराल में शौचालय तो सपने में भी किसी की चिंता का विषय नहीं होता!

ग्रामीण और शहरी, स्त्रियों के स्वास्थ्य के प्रति चिंता जताने वाली सारी सरकारी कथनियां कितनी थोथी नजर आती हैं। शौचालय निर्माण जैसी बुनियादी सुविधा उपलब्ध कराने भर से कितनी बच्चियां व स्त्रियां कितनी गंभीर बीमारियों की चपेट में आने से बच सकती हैं। जिस समाज में लड़कियां, स्त्रियां अपनी प्रकट बीमारियों के प्रति भी चुप रहने को बाध्य हैं वहां गुप्त बीमारियों के बारे में घरवालों को अवगत कराने और उसका इलाज कराने की भला क्या और कितनी संभावना है? इन गुप्त और प्रकट बीमारियों से अकेले चुपचाप लड़ती बच्चियों, लड़कियों और स्त्रियों का गुनहगार कौन है? या कहें कि गुनहगार कौन नहीं है? विज्ञान और तकनीक की वजह से इंसान बड़ी-बड़ी और असंभव चीजें जान गया है लेकिन एक स्त्री की बुनियादी जरूरतों से ये देश-दुनिया कितनी अनजान है? सवाल तो यह भी है कि क्या सच में कोई स्त्रियों की बुनियादी जरूरतें जानना चाहता भी है या नहीं? ❑

शौचालय हर महिला का संवैधानिक अधिकार होना चाहिए : रमेश

तिरुवनंतपुरम (एजेंसी)। स्वच्छता के एजेंडे को जोरशोर से आगे बढ़ाते हुए ग्रामीण विकास मंत्री ने सोमवार को कहा कि शौचालय को हर महिला का संवैधानिक अधिकार बनाया जाना चाहिए। उन्होंने ये बातें खुले में शौच करने को 'जन्मसिद्ध अधिकार' होने की आम भारतीय मानसिकता पर प्रहार करते हुए कही।

उन्होंने कहा, ' शौचालय हर महिला का ...उसकी निजता, उसकी मर्यादा के लिए मौलिक अधिकार है। हर स्कूल, हर आंगनवाड़ी और हर घर में निश्चित तौर पर शौचालय होना चाहिए।' रमेश ने यहां संवाददाताओं से कहा, 'जब तक आप शौचालय नहीं बनाएंगे तब तक हम इंदिरा आवास योजना के तहत धन नहीं देंगे।

हम शौचालय को अनिवार्य बना रहे हैं। यह संवैधानिक अधिकार होना चाहिए।' उन्होंने राज्य के मंत्रियों और अधिकारियों के साथ यहां सफाई की दिशा में केरल में हुई प्रगति की समीक्षा करने के दौरान यह बात कही।

जन-भागीदारी से ही सुधरेंगे स्लम

मुद्दा

भारत डोगरा

शहरी निर्धन वर्ग और स्लम बस्तियों में सुधार का एक नया दौर आरंभ हो चुका है, पर सवाल यह है कि बढ़ते बजट और लुभावने नारों के बीच स्लमवासियों को वास्तव में कितना लाभ मिल पाएगा? यह सवाल उठाना इसलिए जरूरी है क्योंकि जन-भागीदारी के अभाव में बहुत अच्छी योजनाएं भी अपने उद्देश्य से बुरी तरह भटक जाती है। इसका एक जीता-जागता उदाहरण है कानपुर की नवीनगर काकादेव स्लम बस्ती। पहली नजर में तो यहां की योजना बहुत आकर्षक लगती है कि स्लमवासियों को हटाए बिना मूल स्थान का ही नए सिरे से विकास किया जाए ताकि स्लमवासियों को रहने के लिए छोटे फ्लैट मिल जाएं। अधिकांश लोग कहेंगे कि इससे अच्छा और क्या हो सकता है पर जब हम हाल ही में इस योजना का सही हाल जानने के लिए इस बस्ती में पहुंचे तो एक चिंताजनक स्थिति हमारे सामने उपस्थित हुई। यह सच है कि यहां बहुमंजिला फ्लैट बनाए गए है पर बहुत से मूल निवासी आज भी इन फ्लैट से बाहर हैं।

यहां के अनेक लोगों ने बताया कि जब फ्लैट बनने लगे तो इन्हे हथियाने के लिए अनेक फर्जी लोग आगे आ गए जबकि यहां के अनेक मूल निवासियों को पीछे धकेल दिया गया। यह मूल निवासी आज भी स्लम बस्ती जैसी स्थिति में ही इन फ्लैटों के पास रह रहे हैं। वे कहते हैं कि उन्होंने फ्लैट पर अपना हक प्राप्त करने के लिए ऊंचे ब्याज पर कर्ज लेकर कितना ही पैसा खर्च कर दिया पर उनकी कोई सुनवाई नहीं हुई। अब वे कर्जग्रस्त हो गए हैं व 10 प्रतिशत मासिक की दर पर लिया ब्याज चुकाना भी कठिन है। इतना ही नहीं, अब इन मूल निवासियों को कई बार अधिकारियों ने कह दिया है कि वे इस स्थान को छोड़कर चलें जाएं। इस तरह उन पर बेघर होने का खतरा भी मंडरा रहा है। यह एक क्रूर विसंगति है कि जो योजना आवास सुधारने के नाम पर शुरू की जाए वह कइयों को बेघर कर दे। जिन परिवारों को फ्लैट मिल गया, क्या उनकी प्रगति संतोषजनक मानी जा सकती है? ऐसे अनेक परिवारों ने बताया कि निर्माण कार्य इतना घटिया स्तर का हुआ है कि वे अपने भविष्य के बारे में अभी से अनिश्चित हैं। एक कील ठोको तो प्लस्तर नीचे गिरने लगता है। शौचालयों के पाइप लीक करते हैं। वर्षा में छत टपकती है। कभी कोई भूकंप जैसी आपदा आ गई तो न जाने इन घटिया स्तर के आवासों का क्या होगा, जो किसी आपदा के बिना ही टूट-फूट रहे हैं। इन फ्लैटों के आवंटन के समय प्रति आवास 16 हजार रुपए वसूला गया था जो अनेक परिवारों ने ऊंचे ब्याज पर कर्ज लेकर दिया था। अब इस ब्याज के साथ मूलधन चुकाना उनके लिए एक मुसीबत बना हुआ है, साथ में घटिया निर्माण के कारण वे आवास को लेकर भी आश्वस्त नहीं हो पा रहे हैं।

यह एक उदाहरण है ऐसे स्लम विकास का जहां जन-भागीदारी से कार्य नहीं हुआ व इस कारण बहुत गड़बड़ी हुई। एक अन्य परंतु उलट उदाहरण पुणे में भी है, जहां आरंभ से अंत तक सभी कार्य जन-भागीदारी व निर्धन

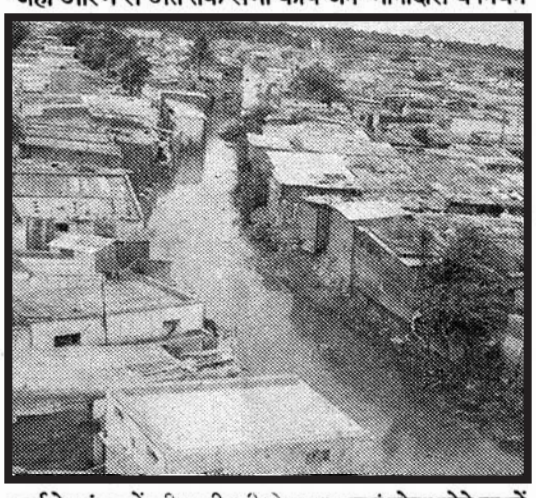

वर्ग के संगठनों की भागीदारी से हुआ। यहां बोझा ढोने वालों या हमालों के संगठनों ने सरकार से सस्ती जमीन के लिए आवेदन किया व यह जमीन प्राप्त होने पर एक आर्किटेक्ट के सहयोग से और अपनी मेहनत से अच्छी गुणवत्ता के लगभग 400 फ्लैट बनाए। जो हमाल पहले झोपड़ियों व स्लम बस्तियों में रहते थे, वे इन फ्लैटों में रहने लगे। सामुदायिक भावना के कारण इस कालोनी का रख-रखाव भी बहुत अच्छा रहा। यहां सामुदायिक भवन भी बनाया गया व अच्छा स्कूल भी आरंभ किया गया। इस तरह सही अर्थों में बोझा ढोने वालों को सभी दृष्टियों से अच्छे आवासों में रहने का अवसर मिला।

इन दो उदाहरणों का सबक यही है कि यदि लोगों की भागीदारी से स्लम-सुधार या स्लम के विकल्प खोजने का प्रयास हो, तभी उसमें सफलता मिलेगी। ऐसे अनेक उदाहरण कानपुर में भी मौजूद हैं कि जब लोगों की भागीदारी व समुदाय की संगठन शक्ति के आधार पर प्रयास किए गए तो उच्छे परिणाम मिले। कानपुर में जब मिलों में मजदूरों के रोजगार कम होते जा रहे थे तो यहां श्रमिक भारती संस्था ने अनेक स्लम बस्तियों में महिलाओं के स्वयं सहायता समूहों का गठन किया जिसने हाल के समय में वाटरएड संस्था के सहयोग से स्लम बस्तियों की महिलाओं में से 'सिटीजन लीडर' का चयन किया। आगे इन्होंने जल व सफाई की व्यवस्था सुधारने के लिए समुदायों को संगठित किया। देवीगंज, इंदिरा मलिन व बारांदेवी बस्तियों में पूर्वनिर्मित सामुदायिक शौचालय खराब पड़े हुए थे। इस कारण इन बस्तियों के लोगों, विशेषकर महिलाओं को बहुत कठिनाई हो रही थी। लोगों ने इन्हें ठीक करवाने के लिए बार-बार अधिकारियों से संपर्क किया। आखिरकार उनके सामूहिक प्रयास की वजह से शीघ्र ही इन शौचालयों की मरम्मत करवाई गई व अब लोगों को काफी राहत मिली है।

कानपुर की ही मक्कू सईद की भट्ठा बस्ती में पेयजल का संकट इतना बढ़ गया था कि लोगों का जीवन दूभर हो गया था। इस स्थिति में महिलाओं के स्वयं सहायता समूह ने अपनी बचत से ही पेयजल व्यवस्था दुरुस्त करने के उपाय किए। इतना ही नहीं, नई व्यवस्था के उचित रखरखाव की जिम्मेदारी भी उन्होंने संभाली। आज किसी बाहरी सहायता के बिना ही बहुत निर्धन महिलाओं ने अपनी स्लम बस्ती की स्थिति सुधारने का शानदार उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनकी पेयजल समस्या काफी हद तक दूर हो चुकी है। गोस्वामीनगर बस्ती ऐसे लोगों की बस्ती है जो सामाजिक व पर्यावरणीय स्तर पर बहुत उपयोगी भूमिका निभा रहे हैं। वे कानपुर की विभिन्न बस्तियों से पुराने कपड़े खरीदते हैं, उनकी मरम्मत करते हैं, फिर इन्हें कम कीमत पर गरीब लोगों को बेच देते हैं। इस तरह वे सस्ते से सस्ते तरीकों से सीमित संसाधनों का बेहतर उपयोग करते हुए निर्धन वर्ग की जरूरतों को पूरा करने में बड़ी भूमिका निभा रहे हैं। इसके बावजूद इस समुदाय की जरूरतों को अधिकारियों ने बहुत उपेक्षित किया। यहां बहुत गंदगी एकत्र होती रही व सफाई का कोई प्रयास नहीं किया गया। इस स्थिति में महिला समूहों, सिटीजन लीडर व अन्य बस्तीवासियों के सामूहिक प्रयास हुए तो कई वर्षों से जमा कई टन कूड़े को वहां से हटा दिया गया। इसी तरह के सामूहिक प्रयास से कई हैंडपंपों की मरम्मत हो सकी व जल-संकट दूर करने में मदद मिली। अब इस बस्ती के लोगों का अगला प्रयास यह है कि शौचालयों की उचित व्यवस्था की जाए।

ऐसे में जब स्लमवासी अनेक कठिनाईयों व आर्थिक संकट के बीच भी अपने सामूहिक प्रयास से सार्थक कार्य कर रहे हैं तो प्रशासन के लिए भी यह बहुत जरूरी है कि वह एक उत्साहवर्धक भूमिका निभाए तथा प्राथमिकता के आधार पर इन समुदायों की समस्याओं के समाधान में योगदान करे। जैसे-जैसे यह संदेश फैलेगा कि स्लमवासियों की एकता के आधार पर किए गए प्रयासों को सरकार भी सहयोग करती है तो कही और अधिक स्लम बस्तियां भी ऐसे प्रयासों के लिए प्रोत्साहित होंगी।

विकास का शौचालय सिद्धांत

यशवंत व्यास

2012 के पर्यावरण दिवस पर खबर आई कि योजना आयोग ने अपने दो शौचालयों के नवीनीकरण पर 35 लाख रुपये खर्च कर दिए। जो लोग गरीबी की रेखा तय करते हैं, वे अपने शौचालयों पर निश्चित ही इतना खर्च कर सकते हैं कि प्रत्येक भारतीय पर तीस हजार का कर्ज बना रह सके। यह उनका गरीबों पर उपकार है कि वे योजनाएं बनाते हुए स्मार्ट कार्ड से शौचालय में जाएंगे, पर 1998 में एक और खबर आई थी। उस खबर का ताल्लुक भी शौचालयों से था। अगर दोनों खबरों के सिरे मिला दिए जाएं, तो हिंदुस्तान की अब तक की तरक्की का राज खुल सकता है।

आत्मविकास की परंपरा में शौचालय का भारी योगदान रहा है। दिशा-मैदान की भारतीय रीति ने कई लोगों को दिमागी तौर पर परेशान किया। कहा जाता है कि गांवों में जंगल की झाड़ियों को ढूंढने और लौटते समय कुएं से दातौन चबाते हिंदुस्तानी लोग परदेसियों के लिए अजूबे थे। भूमिपुत्रों के देश में शौचालय की परंपरा का आगमन आयातित संस्कृति का प्रतीक हो सकता है, लेकिन इससे कौन इनकार करेगा कि महानगरों की झुग्गियों और फुटपाथों में बसे लाखों लोग आज भी यदि सबसे ज्यादा चिंतित होते हैं, तो सिर्फ इसलिए कि उनके लिए न कोई दिशा है, न मैदान। खाइयां और झाड़ियां खत्म हो गई हैं। शर्म को लोटे में भर लेने पर हंसी उड़ाने वाले लोग आजकल सेनिटरी वेयर्स की चमचमाती दुकानों से गुजरते हैं, तो उन्हें अपने 'टॉयलेट' की भव्यता पर गर्व होता है।

ऐसे देश में जहां देश की आधी आबादी भूखी रहती है और फटे पेटीकोट पर शान से जिंदगी गुजार दी जाती हो, वहां नई-नई डिजाइन के 'सेन्सुअस' और 'इरोटिक' अंतर्वस्त्रों के भारी मुनाफे वाले चढ़ते व्यापार के बीच चादरों के लिए मशहूर शोलापुर की जिला परिषद में नौ अप्रैल,1998 को एक खोज चल रही थी। खोज का मुख्य विषय था-शौचालय कहां गए?

सरकारें आजकल विकास में जरा ज्यादा ही रुचि लेती हैं। वे चाहती है कि गांवों को भी झाड़ियों से ऊपर उठाकर कमोड तक लाया जाए। लोग जीवन में इस स्वच्छता के निहित अर्थ समझें। तो, करीब दो करोड़ रुपये शोलापुर जिला परिषद को मिले थे। इन रुपयों से इलाके में तेईस हजार शौचालयों का निर्माण किया जाना था। पैसे गए। रिपोर्ट आई। रिपोर्ट के मुताबिक तेईस हजार शौचालय शोलापुर क्षेत्र में बना दिए गए थे। पर रिपोर्ट के बाद का प्रकरण इस शौचालय योजना की गंदगी पर उठ आया था। पता चला कि कागज पर तेईस हजार बने, लेकिन असल में, उनमें से आठ हजार शौचालय, रुपया पाने वालों की आत्मा में फ्लश होकर गायब हो गए। पहले कागज पर कुएं बनते थे, अब हम शौचालय तक ऊपर उठे हैं, विकास का यह नया मॉडल निश्चित ही थोड़ा

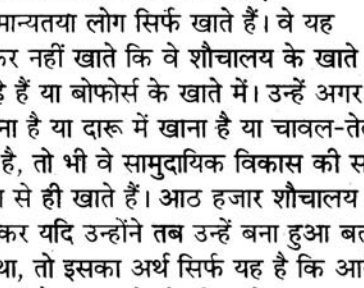

ऊंचा है।

बावजूद इसके, यह पता कैसे चल सकता है कि कागज और जमीन पर बड़ा फर्क है? इस मामले में समझदारी यह थी कि ग्रामसेवक और सरपंच के खातों में अनुदान राशि बराबर-बराबर जमा होती थी, ताकि सामूहिकता की भावना को बल मिले। चूंकि पैसे खाने में सामूहिकता के सिद्धांत पर चोट हो गई, इसलिए किसी पक्ष से यह बात उभरकर सामने आ गई कि तेईस हजार का आंकड़ा झूठ है। आठ हजार शौचालय बिना बने ही शोलापुर इलाके में सफाई-क्रांति का अदृश्य झंडा लहरा रहे थे।

ऐसी घटना पर एकाएक प्रतिक्रिया करनेवाले 'च्च-च्च-च्च' की धार्मिक ध्वनि के साथ शौचालय के नाम पर मिले पैसे खाने पर अफसोस जताएंगे। इससे ऐसा लगता है कि शौचालय का पैसा गंदा होता है। पैसा खाना हो, तो सीमेंट, शक्कर या हवन सामग्री का खाना ठीक रहता है। शौचालय का पैसा पचाने के लिए उत्कृष्ट टाइलों में सजे शौचालय के मालिक होने चाहिए। गांव के 'भ्रष्टाचारियों ' को अपनी दिशा के मैदान में पवित्रता को ध्यान में रखना चाहिए।

सामान्यतया लोग सिर्फ खाते हैं। वे यह सोचकर नहीं खाते कि वे शौचालय के खाते में खा रहे हैं या बोफोर्स के खाते में। उन्हें अगर गटर में खाना है या दारू में खाना है या चावल-तेल में खाना है, तो भी वे सामुदायिक विकास की समान भावना से ही खाते हैं। आठ हजार शौचालय न बनवाकर यदि उन्होंने तब उन्हें बना हुआ बता दिया था, तो इसका अर्थ सिर्फ यह है कि आगे चलकर और 'आलयों' में भी खाने का माद्दा रखते हैं।

उन्होने वस्तुतः वक्त से पहले चाहा कि स्वदेशी' की रक्षा हो। लोग दिशा-मैदान की प्रातःकालीन समस्या के लिए झाड़ियों का ही उपयोग करें। परंपरा की रक्षा हो। शौचालय बन जाएं और न भी बनें। इस तरह सरकारी अनुशासन भी पल जाए और सांस्कृतिक परंपरा भी नष्ट न हो। जब राज करने वाले अफसर-कर्मचारी सच्चे मन से सेवा करते हैं, तो वे विकास के शौचालय-सिद्धांत का पालन करते हैं। वे हर चीज को 'फ्लश' करना जानते हैं और देश की जमीन की उर्वरता के प्रति खाद की प्रकट वीभत्सता के विरुद्ध, रस-गंध-स्पर्श की उपज के सार्थक बिंदुओं के साथ संपृक्त होते हैं।

हमें गर्व होना चाहिए कि हमने सामुदायिक विकास योजनाएं अमल में लाने के लिए इतना अद्भुत तंत्र कायम किया है कि लोगों के लिए आज शौचालय की नहीं, शौचालयों के पैसे खाने वालों की आवश्यकता है। पुल, सड़कें, जंगल आदि-आदि कागजों पर बनते हैं, और जनता उनका उपभोग करके अगली सदी में जाने के लिए चलती रहती है। विकास के शौचालय-सिद्धांत को भी उसने काफी हद तक समझ लिया है।

क्या कोई ऐसा इंतजाम भी हो सकता है कि देश भर में 'हवा में शौचालय' बना देनेवालों की आत्मा को भी 'फ्लश' कर दिया जाए?

हमें अगर विकास चाहिए, तो शौचालय के रास्ते ही आएगा। इस इंतजाम के लिए सरकार को शौचालय विभाग के नए मंत्री बनाने पड़ेंगे। यह तभी हो सकता है कि मौजूदा सरकार हिले। उसके दिशा-मैदान की सुविधाओं में खलल हो। वे तभी नए शौचालयों की योजनाएं बनाएंगे और नए सरपंच, नए ग्राम-सेवक विकास कर सकेंगे।

देश को शौचालय बनाने वालों के लिए देश के लिए शौचालय बनाने का यह फॉरमूला चल जाएगा।

शोलापुर जैसे सिद्धांत पुष्टि के लिए काफी हैं।

क्या कहा?

आप भी शोलापुर जा रहे हैं?

पता नहीं, अपने शौचालयों पर पैंतीस लाख लगाकर योजना आयोग वाले साथ जा रहे हैं या नहीं!

yashwant@del.amarujala.com

एनसीआर में सुरक्षा के लिए सड़क पर उतरीं महिलाएं

भास्कर न्यूज. नई दिल्ली

सिटिजन कलेक्टिव अगेंस्ट सेक्सुअल असाल्ट संगठन के नेतृत्व में शनिवार को महिलाओं ने मंडी हाउस से आईटीओ तक पैदल मार्च कर विरोध प्रदर्शन किया।

राजधानी में महिलाओं पर मंडराते असुरक्षा के साये और इस मामले में पुलिस की निष्क्रियता के विरोध में शनिवार को दिल्ली, गुडगांव और नोएडा की महिलाओं ने सड़क पर उतर कर विरोध प्रदर्शन किया। सिटिजन कलेक्टिव अगेंस्ट सेक्सुअल असाल्ट संगठन के नेतृत्व में भारी संख्या में महिलाओं ने मंडी हाउस से आईटीओ तक पैदल मार्च कर विरोध प्रदर्शन किया। आईटीओ स्थित पुलिस हेडक्वार्टर के सामने इन महिलाओं ने पुलिस के विरोध में जमकर नारेबाजी भी की।

रैली के दौरान दिल्ली को महिलाओं के लिए सुरक्षित बनाने के लिए सात मांगें रखी गईं। इसमें पुलिस अधिकारियों के आपत्तिजनक बयान व पुलिस द्वारा पीड़ित पर आधारहीन आरोप लगाने पर कठोर कार्रवाई, लोगों को अपने अधिकार के प्रति अधिक जागरूक बनाने में पुलिस का सहयोग, पीड़ित के प्रति पुलिस तंत्र के संवेदनशील होने के लिए पर्याप्त ट्रेनिंग की मांग शामिल है। संगठन की सदस्या नंदिनी राव ने कहा कि देश की हर महिला के लिए किसी भी समय घर, बाहर, सड़क या किसी भी स्थल पर सुरक्षा मिलना उसका अधिकार है। इसी अधिकार की मांग के लिए महिलाएं आज सड़क पर उतरी हैं। उन्होंने कहा कि दिल्ली लगातार महिलाओं के लिए असुरक्षित होती जा रही है। दिल्ली पुलिस भी इस बात को मानती है कि राजधानी में हर 18 घंटे में एक महिला रेप की शिकार हो रही है। बावजूद इसके न तो पुलिस इस ओर गंभीरता से कार्रवाई कर रही है और न ही दिल्ली सरकार सार्वजनिक स्थानों को महिलाओं के लिए सुरक्षित बनाने के लिए खास कदम उठा रही है।

दुष्कर्म की घटनाओं के खिलाफ सड़कों पर उतरीं महिलाएं

नई दिल्ली (एसएनबी)। 'नजर तेरी बुरी और पर्दा मैं करूं' इन नारों के साथ राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (एनसीआर) में दुष्कर्म की बढ़ती घटनाओं के खिलाफ महिलाओं ने प्रदर्शन किया। मंडी हाउस पर इकट्ठा हुई महिलाओं ने जंतर-मंतर तक रैली निकाली और प्रदर्शन किया। दुष्कर्म के मामलों में पुलिस की निष्क्रियता पर चिंता जताई गई। दुष्कर्म के आंकड़े पेश करते हुए सिटिजन्स कलेक्टिव अगेंस्ट सेक्सुअल असाल्ट के कार्यकर्ताओं ने शुक्रवार को गाजियाबाद के मॉल की पार्किंग में हुई सामूहिक दुष्कर्म की घटना, 12 मार्च को गुड़गांव में सामूहिक दुष्कर्म की घटना के साथ तमाम घटनाओं में पुलिस की भूमिका पर सवाल उठाए। पुलिस आयुक्त को सौंपे ज्ञापन में मांग की गई है कि वे नोएडा और गुड़गांव के पुलिस अधिकारियों के साथ मिलकर एक बयान जारी करें जिसमें पुलिसकर्मियों द्वारा दुष्कर्म पीड़ितों के बर्ताव और पहनावे को घटना के लिए जिम्मेदार ठहराने की निंदा की जाए।

दुष्कर्म की घटनाओं के खिलाफ सिटीजन्स कलेक्टिव अगेंस्ट सेक्सुअल असाल्ट के तत्वावधान में मंडी हाउस से जंतर-मंतर तक रैली निकाली गई। फोटो : सुभाष पॉल

'जागोरी' की कल्पना विश्वनाथ ने कहा कि हमारी मांग है कि दुष्कर्म की घटनाओं से निबटने का एक मानक निर्धारित किया जाए जिसका तमाम पुलिस अधिकारी पालन करें। लोगों में यह विश्वास जागना बेहद जरूरी है कि जब वे पुलिस के पास जाएंगे तो उनकी सुनवाई की जाएगी। यहां प्रदर्शन में पहुंचे पेशे से व्यवसायी धीरज बख्शी ने कहा कि मैं फरीदाबाद का रहने वाला हूं। मैंने नेहरु प्लेस पर प्रदर्शन से संबंधित पर्चा पढ़ा और यहां इसका हिस्सा बनने आ गया। दुष्कर्म की घटनाओं को लेकर पुलिस का रवैय्या बेहद निंदनीय रहता है। प्रदर्शनकारियों ने गाजियाबाद जिले के साहिबाबाद क्षेत्र में कल इंजीनियरिंग कालेज की एक छात्रा के साथ एक माल के वेसमेंट में खड़ी गाड़ी में सामूहिक दुष्कर्म, इस वर्ष 12 मार्च की गुड़गांव में एक माल के पास से एक लडकी का अपहरण कर सामूहिक दुष्कर्म, 10 मार्च को गुड़गांव के ही बझेरा गांव में बस स्टाप से एक लड़की का अपहरण कर सामूहिक दुष्कर्म तथा दिल्ली में 10 फरवरी को कंझावला में दुष्कर्म की घटनाओं पर रोष जताया। प्रदर्शनकारियों ने कहा कि इन घटनाओं ने सिद्ध कर दिया है कि एनसीआर में महिलाएं एवं लड़कियां बिल्कुल सुरक्षित नहीं हैं।

ज़िन्दगी नही डर में गंवानी है
हमें एक महफूज़ दुनिया बनानी है

महिला यात्रियों के लिए फीमेल ड्राइवर्स

शुरू हुई 'जी कैब' की सर्विस, 125 कैब्स एक साथ उतरीं सड़कों पर

भास्कर न्यूज | गुड़गांव

साइबर सिटी की महिलाओं की सुरक्षा का ख्याल रखते हुए महिलाओं के लिए स्पेशल 'जी कैब' की शुक्रवार से शुरूआत की गई। महिला यात्रियों के लिए महिला चालक इन कैब में उपलब्ध होंगी। जी कैब के निदेशक अभिषेक शर्मा ने मुताबिक जल्द ही कैब्स शेयरिंग बेसिस पर भी संचालित किया जाएगा। पुरुष यात्रियों के लिए पुरुष चालक उपलब्ध कराए जाएंगे। उम्मीद जताई कि साल के आखिर तक कैब्स की संख्या बढ़ा दी जाएगी।

20 रुपए होगा प्रति किलोमीटर किराया : ग्राहक को कैब में पानी व स्नैक्स की सुविधा सहित इंटरनेट चलाने की सुविधा भी दी जाएगी। इसके लिए उसे केवल 20 रुपए प्रति किलोमीटर देना होगा। कैब में शेयरिंग सुविधा को लेकर सरकार से बातचीत चल रही है। अनुमति मिलते ही इसमें शेयरिंग सुविधा को भी शुरू कर दिया जाएगा। इसके अलावा कैब में साफ-सफाई का खासतौर से ख्याल रखा जाएगा ताकि ग्राहक को अच्छा वातावरण दिया जाए। कैब चालक को ड्रेस रोजाना बदलनी होगी।

स्पेशल विजिलेंस टीम : जी कैब की सीईओ बबिता ने बताया कि महिलाओं के साथ-साथ अन्य ग्राहकों की सुरक्षा के लिए स्पेशल सुरक्षा सेल बनाया गया है जिसे विजिलेंस विभाग का नाम दिया गया है। दिल्ली के पूर्व एसीपी केएस बेदी इसके डायरेक्टर हैं। कैब में दो पैनिक बटन दिए गए हैं। एक बटन ग्राहक व एक चालक के लिए है। यदि दोनों में किसी को भी कोई प्रॉब्लम आती है तो वह तुरंत इस बटन का इस्तेमाल कर सकता है। बटन दबाने के बाद विजिलेंस विभाग यानि की कॉल सेंटर में रेड लाइट फ्लैश होगी। ग्लोबल पोजिशनिंग सिस्टम यानी जीपीएस के तहत कैब की जगह को ट्रैक करके विजिलेंस की टीम 20 मिनट के अंदर कैब वाली जगह पर पहुंचेगी। उन्होंने बताया कि महिला चालक केवल महिला ग्राहक के लिए होंगी।

वीमेन कैब्स साढ़े छह बजे तक : अभी फिलहाल महिला चालक साढ़े छह बजे तक काम करेंगी। सरकार से लाइसेंस मिलने के बाद वह 10.30 बजे तक काम करेंगी। महिला चालक की सुरक्षा का भी खास तौर से ख्याल रखा जाएगा। इसके लिए महिला चालक को विशेष तौर से सेल्फ सिक्योरिटी की ट्रेनिंग भी दी जाएगी। दिल्ली के पूर्व एसीपी केएस बेदी ने बताया कि जी कैब में ग्राहकों की सुरक्षा का ख्याल रखते हुए प्रत्येक चालक का पिछला रिकॉर्ड और लाइसेंस की जांच की जा रही है। कोई चालक कितने घर बदल चुका है, जिस घर का उसने पता दिया वहां कितने सालों से रह रहा है, उसका कोई पुलिस रिकॉर्ड तो नहीं, लाइसेंस असली है या नकली, जैसे बातों का ख्याल रखने के बाद ही उन्हें भर्ती किया जा रहा है।

मनचलों पर लगाम कसे सरकार

प्रियंवदा सहाय

राष्ट्रीय महिला आयोग ने सरकार से की इस संबंध में सख्त कानून बनाने की सिफारिश

नई दिल्ली। 'तेरा पीछा न मैं छोडूंगा सोणिए' की हरकत से बाज न आने वाले पुरुषों को उनकी यह आदत भविष्य में जेल की हवा खिला सकती है। राष्ट्रीय महिला आयोग ने लड़कियों और महिलाओं को परेशान करने वाले मनचलों के खिलाफ सख्त कानून बनाने की सिफारिश सरकार से की है। आयोग का कहना है कि रोजाना पीछा करने जैसी हरकतें पुरुषों की आदतों में शुमार हो जाती हैं। इन पर अंकुश लगाने के लिए आयोग ने सरकार से ऐसी हरकतों के खिलाफ अलग से स्पष्ट कानून बनाने की मांग की है।

अमर उजाला विशेष

महिला आयोग का दावा है कि रोजाना पीछा करने, अश्लील एसएमएस या ई-मेल करने वाले पुरुषों के लिए विशेष रूप से सजा का प्रावधान इसलिए होना चाहिए क्योंकि ऐसी हरकतें महिलाओं को मानसिक प्रताड़ना देती हैं। ऐसे मनचलों को कड़ी सजा दिलाने के लिए भारतीय दंड संहिता में अलग से धारा जोड़ी जानी चाहिए। दरअसल मौजूदा समय में ऐसे दुर्व्यवहार के लिए अलग से दंड का प्रावधान नहीं है जबकि आए दिन स्कूल, कॉलेज जाने वाली लड़कियों और कामकाजी महिलाओं को ऐसी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। आयोग का मानना है कि नए कानून में शारीरिक ही नहीं, बल्कि फोन पर या पीछा करने जैसी हरकतों पर अलग से दंड का प्रावधान होना चाहिए। गौरतलब है कि 2008 में बांबे हाईकोर्ट ने ऐसे एक मामले में महिलाओं के पीछा करने पर कानून बनाने का सुझाव दिया था। जानकारों का कहना है कि बलात्कार के ज्यादातर मामलों में पुरुष लंबे समय से महिला का पीछा कर रहा होता है।

आयोग महिलाओं के पीछा करने को अपराध की श्रेणी में डालना चाहता है। फिलहालपि, आईपीसी में इस तरह के दुर्व्यवहार को अलग अपराध नहीं माना जाता। ऐसे मामलों में अलग से सजा हो, इसलिए सरकार ने सिफारिश की गई है।
-चारुवाली खन्ना, राष्ट्रीय महिला आयोग की सदस्य

नोट : देश्वी सुनी के विषय में अपने सुझाव, संस्था व कार्य में इसकी उपयोगिता और अपनी प्रतिक्रिया अवश्य भेजें। ताकि हम आपके लिये इसका प्रकाशन व वितरण ज़ारी रख सकें।

जागोरी JAGORI

निशुल्क प्रतियों के लिए संपर्क करें –
बी–114, शिवालीक, मालवीय नगर, नई दिल्ली–110017, फ़ोनः 26691219, 26691220
email: resource@jagori.org/jagori@jagori.org, www.jagori.org

ICCO-Misereor के सहयोग से प्रकाशित